संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

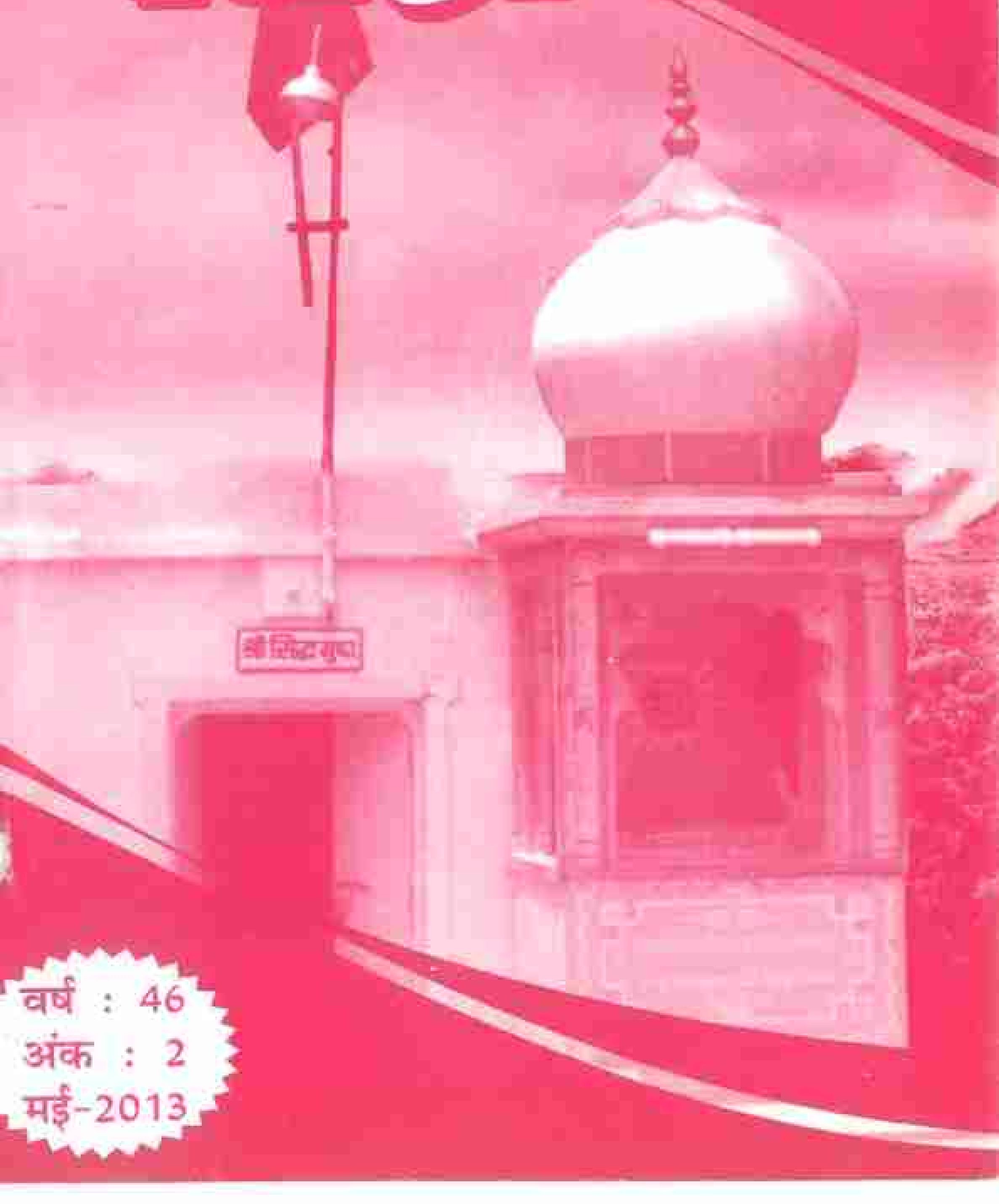

वर्ष : 46
अंक : 2
मई-2013

अमृत कण

प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम्।
नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम्।।

तीनों लोकों के स्वामी, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक परमेश्वर को प्रणाम कर मैं अनेक शास्त्रों से उद्धृत करके 'राजनीति-समुच्चयः' नामक ग्रन्थ का लेखन-कार्य आरम्भ करता हूँ।

अधीत्येदं यथाशास्त्रं नरो जानाति सत्तमः।
धर्मोपदेशविख्यातं कार्याऽकार्यं शुभाऽशुभम्।।

श्रेष्ठ मनुष्य इस शास्त्र का विधिवत् अध्ययन करके वेदादि शास्त्रों में उपदिष्ट कर्तव्य-अकर्तव्य, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म को ठीक-ठीक जान जाता है।

तदहं सम्प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।
येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते।।

मैं लोगों के मंगल की इच्छा से उस 'राजनीतिसमुच्चयः' का वर्णन करूँगा, जिसको जानकर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है।

मूर्खशिष्योपदेशेन दुष्टस्त्रीभरणेन च।
दुःखितैः सम्प्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति।।

मूर्खशिष्य को पढ़ाने से, दुष्टस्त्री का भरण-पोषण करने से और दुःखीजनों के साथ व्यवहार करने से बुद्धिमान् मनुष्य भी दुःख उठाता है।

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः।।

कटुभाषिणी और दुराचारिणी स्त्री, धूर्त स्वभाव वाला मित्र, उत्तर देने वाला नौकर और सर्प वाले घर में रहना - ये सब बातें मृत्युस्वरूप ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :– शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 46 मई – 2013 अंक : 2

शुभेन कर्मणा सौख्यं
दु:खं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र
नाकृतं भुज्यते क्वचित्।।

(महाभारत अनु.)

शुभ कर्म करने से सुख और पाप कर्म करने से दु:ख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म ही सर्वत्र फल देता है, कर्म किये बिना कोई फल नहीं मिलता इसलिए शुभ कर्म करना चाहिए।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	9
3.	गुरु गीता – डॉ. जे. पी. शर्मा	11
4.	योगेश्वर प्रभु रामलाल और अध्यात्म – डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी	19
5.	न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो – डॉ. रमेश सिंह	21
6.	गुरु की नजरे–करम –पूजा पाण्डेय	25
7.	श्री सद्गुरु करैं सो होय – डॉ. विजय सिंह	26
8.	संयम द्वारा प्रातिभज्ञान तथा सिद्धियाँ – प्रो. ऋषिराम शर्मा	29
9.	बार बार बलिहारी – जगदीश राए बंसल	34
10.	योग असान – पद्मासन	35
11.	श्री गीतामृत पदावली	36
12.	भजन – अवनीश भटनागर	39
13.	क्यों करता नर तू अभिमान – द्वारका प्रसाद शर्मा	40

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 150.00
द्विवार्षिक	: रु. 280.00
आजीवन (10 वर्षों केवल)	: रु. 900.00

• विशेष लेख

दुःख क्या है?

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संसार में जन्म लेने वाला हर एक प्राणी दुःख निवृती के लिए हर समय प्रयत्नशील रहा करता है। किन्तु उसको पूर्णरूपेण यह ज्ञान नहीं होता कि वस्तुतः दुःख किस वस्तु का नाम है। मुण्डे–मुण्डे मतिः भिन्ना के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों की मतियाँ भिन्न–भिन्न होती हैं और वे लोग अपने मतिभेद के अनुसार दुःख और सुख की कल्पनायें किया करते हैं किन्तु दुःख का स्वरुप क्या है? यह बात हर एक व्यक्ति तथा रूप से नहीं समझ पाता वस्तुतः तो योगी विवेकी पुरुष के लिए जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त केवल मात्र सभी क्रिया–कलाप दुःख ही दुःख हैं। अपने मन में जिन विषयों को हम सुख के लिए स्वीकार करते हैं परिणाम में उनका स्वरूप दुःख के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। भगवान पतंजलि देव का योग दर्शन हमें बतलाता है कि '**परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःख मेव सर्व विवेकिन।**

अर्थात् परिणाम ताप संस्कार दुःख और गुण वृत्ति विरोधादि के द्वारा विवेकी पुरुष यह सारा संसार दुःख मय ही है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए विवेचना करते हैं–

अर्थात् इन्द्रियों को भोगाभ्यास से वितृष्णा करना संभव नहीं हो सकता, भोगाभ्यास से इन्द्रियों के राग और चपलताऐं उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं। इसलिए भोगाभ्यास सुख प्राप्ति का साधन नहीं। जिस प्रकार से एक मनुष्य वृश्चिक के विष से डरा हुआ सर्प विष से खाया जाये तो वह वृश्चिक विष की अपेक्षा और भी अधिक दुःख सागर में पड़ जाया करता है। क्योंकि इस प्रकार के उपायों से इन्द्रियों के राग शान्त नहीं होते। भगवान मनुदेव ने मनु स्मृति में बिल्कुल स्पष्ट किया है कि इन इन्द्रियों के राग भोगाभ्यास से शान्त नहीं होते। प्रत्युत जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से उत्तरोत्तर अग्नि ज्वालायें बढ़ती ही जाती हैं इसी प्रकार इन्द्रियोपभोग से इन्द्रियों के राग भी उत्तरोत्तर बढ़ते ही रहते हैं इसलिए संसार के सभी भोग परिणाम में दुःख के ही दाता हैं। भगवान भर्तृहरि जी ने परिणाम दुःखता बताने को वैराग्य शतक में एक बहुत अच्छा श्लोक लिखा है।

भोगे रोगभयं कुले च्यूतिभयं, वित्तेनृपालाद भयं,
माने दैन्य भयं बले रिपुभयं, रूपे जराया भयं,
शास्त्रे वादभयं गुणे खल भयं, काये कृतान्ताद्भयं,

सर्व वस्तु भयावह भवि, नृणां वैराग्य मेंवा भयम।।

अर्थात् भोगों में रोगों का, ऊँचे कुल में पतन का, धन में राजा का, मान में दीनता का, बल में शत्रु का, तथा रूप में वृद्धावस्था का भय है, इस प्रकार संसार में सभी वस्तुऐं मनुष्य के लिए भय पूर्ण हैं इसी का नाम परिणाम दु:खता है।

ताप दुखता – दूसरे प्रकार के दु:खों को ताप दु:खता माना है। ताप दुखता को समझने के लिए अपने भाष्य में श्री व्यास देव जी ने अपने विचार प्रकट किये हैं अर्थात् चित्त में इन्द्रियों के राग द्वेष पैदा होते रहते हैं जब किसी मनुष्य को कामाविधात होता है तो कामना पूर्ण न होने पर उसके मन में एक गहरी जलन होती है इससे मनुष्य कामनाओं के पूर्ण न होने से एक गहरी जलन का अनुभव करता है। इसी का नाम तापदु:खता है, यह दु:ख भी परिणाम दु:ख की तरह ही संसार के मनुष्यों को अनवरत होता रहता है। आजकल संसार के लोग मानस ताप से तपते रहा करते हैं।

संसार दु:खता – संसार दुखता को मोटे शब्दों में इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस समय सुख संस्कारों का भोग काल उपस्थित होता है। उस समय सुख संस्कार ही अधिकांश सन्मुख आया करते हैं किन्तु यह भी आवश्यक है कि क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कार परस्पर एक दूसरे से अविभूत रहा करते हैं प्राणी जिन संस्कारों में सुख का अनुभव करता है उस समय उसकी वह सुख संस्कारानुभूति है। किन्तु ये अनुभूति कायम नहीं रहेगी शास्त्र का नियम है कि **'चल हि गुणं वित्तम'** अर्थात् गुणवित्त हमेशा चल है, तमोगुण के शान्त होने पर रजोगुण या सतोगुण उदित होते रहते हैं इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि इस सुख संस्कारोपभोग वाला व्यक्ति हमेशा ही सुख संस्कार का अनुभव करेगा। सुख संस्कारों का भोग काल समाप्त हो जाने के बाद उनकी स्मृति ही दु:खों का जनक बन जायेगी। इसलिए संस्कारों का बनना और बिगड़ना भी प्राणी के लिए दु:ख का ही दाता है। दु:ख संस्कार तो मनुष्य को दु:खानुभूति कराते ही हैं किन्तु सुख संस्कार भी सूक्ष्म तत्व जानने वाले योगीराजों के लिए दु:ख के ही जनक होते हैं।

सहज दुखता – मनुष्य जन्म लेने के बाद मृत्यु पर्यन्त हजारों प्रकार के दु:खों का अनुभव करता रहता है जिसमें आध्यात्मिक **'आत्मानं स्वसंघातमाधिकृत्य वर्तन इत्याध्यात्मिकं, तच्च दिविविधं शारीर मानसं च शारीरं व्याधादिजनितं मानसं कामादिजम्'** अर्थात् आत्मा के स्व संघात को अधिकृत करके जो दु:ख आता है वह आध्यात्मिक दु:ख कहलाता है। वह भी हमारे शास्त्र में दो प्रकार का माना है – **शारीरं मानसं वा**, अर्थात् शरीर से सम्बन्ध रखने वाला और मन से सम्बन्ध रखने वाले दु:ख हजारों प्रकार के संसार में देखने में आते हैं जिनकी गहरी चोट को पाकर मनुष्य मौत के घाट उतर जाता है

और उन पर काबू नहीं पाता और उसका जीवन काल भी मृतक के समान ही रहा करता है। हमने इस योग प्रचार के कार्यक्रमों में बहुत से इस प्रकार के दु:खी लोग देखे हैं जो हा–हाकार करते हुए मौत को हर समय पुकारते थे, दमे के रोगी, लाडन, तपेदिक के रोगी, हिस्टीरिया के रोगी, कैंसर के रोगी, अपनी जिंदगी के दिनों को अंगुलियों पर गिनते रहते हैं। किन्तु इतने गहरे दु:ख को भोगते हुए भी वे लोग कठिन कर्म विपाक बस काल पुरुष को सामने नहीं देखते। थोड़ी बहुत जब दु:ख निष्कृति दिखायी देती है तभी उनकी दुनियावी उलझनें तत्काल घेर लेती हैं और उन उलझनों को उलझाते सुलझाते ही उनका अपना जीवन काल का ग्रास बन जाता है।

एक उदाहरण – जिस समय हमने संवाई ग्राम में आकर योग प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। उसी पुराने समय की एक ब्राह्मणी की घटना हमें रह–रह कर याद आती है। यह देवी श्वास रोग के घोर कष्ट से पीड़ित थी। उसका पति आश्रम में इलाज के लिए इसे लेकर आया। अकस्मात जब वह उसे घोड़ी से नीचे उतार रहा था उसी समय इसके शरीर पर श्वास रोग का घात हुआ और देखते–देखते ही वह मृत्यु के समान लम्बे श्वांस लेने लगी, इसकी यह दशा बड़ी ही दयनीय थी और आँखों से देखी नहीं जाती थी, करुण क्रंदन हो रहा था, इसके पतिदेव के मन में स्वयं यह भावना थी कि इसका तत्काल ही प्राणान्त हो जाये अन्यथा किसी प्रकार इस व्याधि की निष्कृति हो जाये। अस्तु! यत्न किया गया और कई घण्टे बाद वह देवी अपनी सहज स्थिति में आ पाई। जब वह अपनी चेतना को पा गयी तब हमने उससे पूछा कि ईश्वरानुग्रह से तेरा यह रोग हट जाये तो क्या तू परमात्मा का स्मरण किया करेगी, उसने हौसले के साथ उत्तर दिया कि हाँ महाराज जी यदि जिंदगी बच गयी तो संसार में और काम ही मुझको क्या है? उसके सद्भावों को देखकर यौगिक चिकित्सा के द्वारा उसका उपचार हुआ और वह बिल्कुल स्वस्थ हो गयी। उसने बड़े आग्रह के साथ मुझे अपने घर निमन्त्रण देकर बुलाया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि वही बुढ़िया अपने घरेलू कार्यों में इतनी व्यस्त है कि उसको 10 मिनट बात की भी फुर्सत नहीं है। उसके आंगन में एक खटिया पड़ी थी जो बीच से कटी थी जिसमें वह 9 साल तक अनवरत पड़ी रही और कटी हुई खाट का वह छिद्र ही उसके मलमूत्र का साधन था, जब मैंने उससे बात की कि देवी क्या तू ईश्वर का थोड़ा बहुत चिंतन किया करती है तो उसने उत्तर दिया कि हाँ महाराज जी ये मेरी दो धेवती हैं इनकी शादी कर देने के उपरांत ही अब मैं ईश्वर का भजन किया करूंगी। उसके बाद मेरा कोई काम शेष नहीं रहेगा। बेचारी बुढ़िया लड़कियों की शादी के स्वप्न देखती रही और देखते–देखते ही काल का ग्रास बन गयी, इसी प्रकार कामादि मानस विकारों के अंदर मनुष्य जीवन भर सुख के स्वप्न लिया करता है। किन्तु वह नहीं समझ पाता कि वह विषैला कांटा है। काल कभी भी उसे खा जायेगा।

आधिभौतिक दु:ख– व्याघ्र, शेर, भालू आदि से पैदा हुआ दु:ख आधिभौतिक कहलाता है और वह भी मनुष्य पर हर समय आक्रान्त ही रहता है। कह नहीं सकते किस समय प्राणी इस दु:ख से आक्रांत होकर संसार से विदा हो जाये।

आधिदैविक दु:ख – दैवी के अधिकार पूर्वक जो दु:ख मनुष्य को प्राप्त होते हैं वह आधि दैविक दु:ख कहलाते हैं। जिसमें गृह नक्षत्रादि की पीड़ाओं से एवं सर्दी गर्मी आदि से जो दु:ख होते हैं वह सभी अधिदैविक माने जाते हैं इससे मनुष्य प्राय: आक्रान्त ही रहता है। किन्तु दु:ख सहने का इतना आदी बन जाता है कि वह इन दु:खों का दु:ख समझ ही नहीं पाता।

गुण वृत्ति विरोध का दु:ख – जिस सूत्र के इस लेख की पंक्तियाँ लिखी गयी हैं उसमें सबसे पिछला वाक्य है **'गुण वृत्ति विरोधाच्च दुखमेव सर्व विवेकिन:'** अर्थात्, कुछ दु:ख परिणामी बताये गये, कुछ तापज बताये गये, कुछ संस्कारोद्भूत बताये गये और कुछ का आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवम् आधिदैविक रूप से दु:खों का निर्देशन कराया गया। उपरोक्त दु:ख प्राय: सभी प्राणियों में व्याप्त रहते हैं किन्तु गुण वृत्ति विरोध का दु:ख इस प्रकार का है जो बड़े और छोटे में, पिता पुत्र में, भाई और बहन में, गुरु और शिष्या में, पति और पत्नी में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त दिखाई देता है। गुणवृत्ती विरोध का अर्थ है। परस्पर स्वभाव का न मिलना। पिता सात्विकी प्रवृती के हैं; पुत्र रजोगुण प्रधान हैं। परस्पर स्वभाव नहीं मिलता। पुत्र सतोगुण प्रधान है; प्रहलाद आदि की तरह पिता तमसाधिभूत है। हिरण्यकश्यप आदि की तरह परस्पर स्वभाव नहीं मिलता। यही नियम भाई बहन, पति–पत्नी आदि पर भी सामान्य रूप से लागू है। जिसके फलस्वरूप संसार के सभी प्राणी आज तक कभी भी एक मत नहीं हो पाये और न ही ऐसा आगे होने की कोई संभावना है। इस प्रकार से विवेक ख्याति प्राप्ति पुरुष के लिए सारा संसार दु:खमय ही है। मनुष्य को क्षुधा लगती है किन्तु क्षुधा निवृती का साधन प्राणी मात्र को अपने प्रारब्धानुसार उदर पूर्ति के लिए अन्न प्राप्त होता ही है। इसलिए उसको यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि भूख लगना भी एक दु:ख ही है मनुष्य को प्यास लगती है किन्तु पिपासा निवृती का साधन सुमधुर जल हर जगह उपलब्ध है। अत: मनुष्य यह सोच भी नहीं पाता कि पिपासा भी एक दु:ख ही है। किन्तु विवेक ख्याति प्रधान विशुद्ध मन वाले एक योगी के लिये यह सब दु:ख ही दु:ख है, उपर्युक्त पंक्तियों में संसार में होने वाले दु:खों का दिग्दर्शन कराकर यह समझाया गया है कि संसार का हर क्रिया–कलाप हर घड़ी–क्षण दु:ख रूप ही है। किन्तु अभी तक उस दुख का संकेत इस लेख में नहीं किया गया है। जिसकी निवृती के लिए मनुष्य दृढ़ प्रतिज्ञा होकर जन्म लिया करता है। उस दु:ख का नाम जन्म–मरण है। मनुष्य अपने जीवन काल में किसी भी प्रकार दु:खों का अनुभव करता रहता है। किन्तु सूर्य की रोशनी उसको दीखती है। वायु का सुखद स्पर्श

उसको अनवरत हुआ करता है। अतः जीवन काल के कठिन दुःखों का अनुभव करके भी वह अपने आप को दुःखी नहीं समझता, क्योंकि उसको सुख के श्वांस आ रहे हैं। जिस समय मनुष्य के सिर पर मौत की घड़ियाँ आती हैं और उसके प्राण देह को छोड़कर अलहदा हो जाते हैं तब वह महाधंकार में घूमता हुआ यह सोचा करता है कि वह सूर्य कहाँ गया है। मेरे मकान कहाँ है जिनमें रहा करता था, मेरे भाई–बांधव कहाँ हैं जिनके हास–विलास में सब समय निकल जाया करता था। पता नहीं कि मैं किस दुःख पंक में पड़ गया हूँ जिसमें से न मुझे दीखता है न किसी का शब्द सुनाई पड़ता है और न किसी का स्पर्श होता है न मेरी क्षुधा पिपासा की निवृती होती है अब मैं क्या करूँ किसकी शरण लूँ, जिससे मैं दुबारा उसी प्रकार से सब दृश्यों को देख व सुन सकूँ और पूर्व वत अन्न खा सकूँ जल पी सकूँ। किन्तु उसका यह सोचना मात्र रह जाता है। यही दशा इस प्रकार की हुआ करती है जिसके भय से भीत होकर मरणासन्न व्यक्ति के मुख में हमारे हिन्दु धर्म की रीति नियमानुसार मिट्टी के दिये से जल या गंगाजल डालते हैं। जिससे मरणासन्न व्यक्ति प्यासा न चला जाये और प्राणान्त हो जाने के बाद गत आत्मा पिपासा के दुःख से दुःखित घूमती न फिरे, ऐसा हो जाने के बाद भी पीपल के वृक्ष में जल का हंडिया बांधने की रिवाज अपनी परम्परा है। जिससे गत आत्मा उस हंडिया के छिद्र से टपकती हुइ जल बूंदों के द्वारा अपनी पिपासा रूपी वासना की पूर्ति कर सके। देहावसान के बाद जिस समय देह का अग्नि संस्कार करके मनुष्य लौटा करते हैं उसी दिन संध्या के समय ब्राह्मण लोग वियुक्त आत्मा के लिये दीप दान कराया करते हैं और वे लोग कहा करते हैं।

गतात्मनो महान्धकार नियत्यर्थ दीपदानं च क्रियते। अर्थात् हम अपने उस गत आत्मा के अंधकार निवृत्यर्थ यह दीप दान कर रहे हैं। यह सब संकेत देहावसान के बाद एवं देहान्त सम्बन्ध काल के बीच में प्राणी की जो दशा हुआ करती है उससे ही सम्बन्धित होते हैं। इसी को मरण दुःख माना है इसके बाद जन्म लेने का दुःख इससे भी कहीं और अधिक भयंकर है जिसका वर्णन गर्भोपनिषद में किया है।

ऋतु कालान्तर पहली रात्रि में विकृत रस सा होता है। सात रात्रि बाद बुदबुदा होता है। आधे मास बाद पिण्ड बन जाता है, एक मास बाद वह कुछ कठिन सा हो जाता है, दो मास बाद सिर बन जाता है। तीन मास बाद प्रदेश, चौथे मास में गुल्फ, जानू, कटिप्रदेश, पाँचवे मास में तथा छटे मास में मुख, नासिकादि, सातवे मास में सर्व लक्षण सम्पन्न हो जाता है, पिता के वीर्य की अधिकता से पुरुष और माता के रज की अधिकता से स्त्री और दोनों वीर्य की समानता से नपुंसक और व्याकुल मन होने पर कुब्जा कामना गठना हो जाता है और अन्योन्य वायु के परिपीड़न से और शुक्र के दो भागों में बटने से जोड़ा पैदा हो जाता है और सब कुछ हो जाने के बाद नवमा महिमा प्राप्त होने पर सर्व लक्षण ज्ञान कर्मों से पूर्ण हो जाता

है।

अब वह पूर्व जाति को याद करता है शुभाशुभ कर्मों को पाता है। पूर्व की हजारों योनियों को देखकर भयभीत होता है और देख कर कहता है कि मैंने नाना प्रकार के आहार खाये अनेक प्रकार के स्तनों से दूध पिया, बार–बार जन्मा और मरा, अपने परिजनों के लिए जो मैंने शुभाशुभ कर्म किये उनके कारण मैं अकेला जल रहा हूँ, वे सब फल भोगी लोग चले गये। ओह! मैं कैसे दुख सागर में पड़ गया हूँ। इससे निकलने का कोई उपाय नहीं दिखाई देता। यदि अबकी बार मैं इस योनिद्वार से निकल जाऊंगा तो मैं महेश्वर भगवान की शरण लूंगा। जिससे वह मेरे पापों का नाश कर मुझे मुक्ति दे दें। यदि मैं अबकी बार इस योनि द्वार से निकल गया तो नारायण की शरण लूंगा। जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश हो और मुक्ति मिल जाये, यदि मैं अबकी बार योनि से बाहर निकल गया तो सांख्य योग का अभ्यास करूंगा। जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश हो और मुक्ति मिल जाये, यदि मैं अबकी बार योनि द्वार से निकल गया तो सनातन ब्रह्म का ध्यान करूंगा।

जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश होकर मुक्ति मिल जाये। इस प्रकार विचार करता हुआ वह योनिद्वार को प्राप्त हुआ कोल्हू में पिसते हुए के समान बड़े दुःख से जन्म ले पाता है और उसके बाद भगवान विष्णु की त्रिगुणात्मिका माया की वायु से स्पर्शित हुआ सब कुछ भूल जाता है। जन्म लेना और मरना उसको याद नहीं रहता। अपने शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगता है। गर्भोपनिषद के कथनानुसार जन्म लेने का वही दुःख माता के पेट में मलमूत्र दुर्गन्ध को हर समय सूंघता है। माता किसी प्रकार से खट्टा या तीता पदार्थ खाये तो गर्भस्थ प्राणी जलने लगता है। यद्यपि मनुष्य का सारा जीवन दुःखमय ही है। किन्तु फिर भी जन्म मरण को हमारे शास्त्रों में महाभयंकर बतलाया है इसी से बचने के लिए सभी प्राणी प्रयत्नशील रहा करते हैं किन्तु कोई–कोई भाग्यवान जीव इस महादुःख पंक से बच पाता है मनुष्य का कर्तव्य है कि –

या वत्स्वस्थमिदं देहं यावन्मृत्युश्चदूरतः
तावदात्महितं कुर्यात् मरणन्ते किं करिष्यति।।

अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है मौत की घड़ी दूर है तब तक मनुष्य को अपना भला कर लेना चाहिए। मौत सामने आ जाने पर कुछ नहीं हो सकेगा।

●●●

अशुभ कर्म करना किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं
बल्कि अपना स्वयं का ही नुकसान करना है।

सब रोगों की परम औषधि है

योग

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

मनुष्य स्वाभाविक रूप से ही आध्यात्मिक, आर्धदैविक एवं आर्ध भौतिक दु:ख से दु:खी रहता है। भारतीय योगियों और मनीषियों ने इन दु:खों के परिहार का उपाय बहुत काल पहले खोज लिया था। त्रिविधताप के शमन के उपाय के रूप में योग विद्या के रहस्य को खोजा और उस अमृतमयी विद्या के अपने जीवन में अंगीकार करने से मनुष्य दु:खों एवं क्लेशों से दूर हो सकता है। इस प्रकार बड़े–बड़े सिद्ध एवं योगी पुरुष अपने चरम लक्ष्य को पा गये। शास्त्रों में योग के विविध रूप वर्णित हैं। साधक अपने अधिकार भेद एवं क्षमता के अनुसार अपने लिये मार्ग चयन कर सकता है और दु:खों से छूट कर लक्ष्य को पा सकता है।

मनुष्य ने इस भौतिक विज्ञान के युग में बहुत ही सुविधायें जुटा ली हैं, किन्तु फिर भी क्लेश कम होने की बजाय बढ़ते जा रहे हैं। इसका मुख्य कारण है, मनुष्य में संतोष का अभाव भोग विलास में योग नहीं होता। योग और भोग तो भिन्न–भिन्न दिशायें हैं। मनुष्य भोग का त्याग तो करे नहीं और योग की इच्छा करे यह कठिन बात है। योग कला का ज्ञान यदि मिल जाये तो सहज में ही हर स्वांस में योगमय रह सकते हैं। योग में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि साधक मन के योगों के प्रति उदासीन रहे। इस प्रसंग में ऋषिकुमार नचिकेता का चरित्र स्मरणीय है। यमपुरी में पहुँचे हुए आठ वर्ष के बालक को यमराज अनेक संसारी प्रलोभन देते हैं, किन्तु प्रबल संस्कारवान ऋषिपुत्र कहते हैं, हे यमराज मनुष्य बंधन से तथा भोगों से कभी संतुष्ट नहीं हो सकता इसलिए मुझे यह सब नहीं चाहिए। मुझे तो ब्रह्म विद्या का अमूल्य उपदेश चाहिए। जब बालक के दृढ़ विचार जान गये तो यमराज ने उन्हें अध्यात्म विद्या का उपदेश किया। नचिकेता ब्रह्म विद्या का सर्वोत्तम अधिकारी था, इसलिए इसी विद्या के वरण पर बल दिया और भोगों की नश्वरता का प्रतिपादन किया। योग का अधिकारी नचिकेता जैसा होना चाहिए जिसमें भोगों की तनिक भी इच्छा नहीं है, जब साधक योग मार्ग के प्रवेश का अधिकारी बनता है, तब उसे गुरुदेव की कृपा से मार्ग मिलता है और साधक आगे बढ़ता है। श्रद्धा और वैराग्य साधना के दो पहिये की भांति हैं। गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने कहा है –

श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

अर्थात् – श्रद्धावान व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त कर सकता है इसके साथ ही साधक को निरन्तरता एवं तत्परता रखनी होगी।

तीसरी बात है संत्यतेन्द्रिया की साधक संयतेन्द्रिय होना चाहिए। यदि संयतेन्द्रिय नहीं है तो साधक अपने मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता है। संयतेन्द्रिय के अभाव में साधक की गति वैसी

ही हो जाती है जैसे फूटे घड़े में पानी डालते रहने पर भी जल घड़े में टिक नहीं पाता है। साधक को अपने इंद्रिय, मन और बुद्धि पर अधिकार रखना होगा। यदि साधक में इंद्रिय संयम है तो थोड़ा करने पर भी काफी हो जाता है। इसके अभाव में साधक के भीतर शक्तियों का संग्रह नहीं हो पाता है। कई साधक कहते हैं, मैं कई घण्टे साधना करता हूँ किन्तु प्रगति नही हो रही है। इसका कारण यही होता है कि साधक अपने मन पर संयम नहीं रख पाता है। सिद्ध गुरुदेव की कृपा से ही मन पर संयम रखा जा सकता है। भगवान गीता में कहते हैं –

असंयतात्मना योगो दुष्प्राय इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तमुपायतः।।

अर्थात् – असंयात्म असंयतात्मा योग को कठिनता से प्राप्त करता है जबकि वशी साधक के लिए यह सहज ही प्राप्य हो जाता है।

मनुष्य के जीवन के समस्त क्लेश योग विद्या के जीवन में अपना लेने पर नष्ट हो जाया करते हैं। शास्त्र में योग ही सभी दुःखों की निवृत्ति योग से ही बताते संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनकी महानता का कारण उनके मन की एकाग्रता ही है। एकाग्र मन वाला सब कुछ पा सकता है। गुरुदेव मन को एकाग्र करने का साधन या उपाय बताते हैं। उस उपाय का दृढ़ अभ्यास हो जाने पर साधक के अंदर शक्तियों का संग्रह हो जाता है और वह जीवन के सभी दुःखों से पार होने की क्षमता रखता है। आवश्यकता है योग के विज्ञान को यथार्थ रूप से समझने की और फिर उसे करने की। बहुत अधिक बोलना, इधर उधर का साहित्य पढ़ते रहना बुद्धि चातुर्य से योग को प्राप्त करने की बात सोचना निरर्थक है। साधक अपनी साधना पर विश्वास करे। गुरुदेव एवं गुरुमंत्र पर दृढ़ विश्वास रखे, तो अवश्य ही आगे बढ़ जाया करता है। अन्यथा श्रम व्यर्थ ही चला जाता है। योग का मार्ग ठीक से पकड़ में आ जाये तो सरल है अन्यथा दुर्लभ ही है। योग से ही आत्मशक्ति का उदय होता है और इस शक्ति के उदय होने पर सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। योगी के लिए कोई भी कार्य असाध्य व दुष्प्राप्य नहीं रहता। योगी सभी कुछ पा जाया करता है। अतः योग ही मनुष्य के लिए धारणीय व वरणीय वस्तु है।

• • •

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति।।

– चाणक्य नीति

जो व्यक्ति पर–स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के समान और समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीय भाव रख कर उनको अपनी आत्मा के समान देखता है, वस्तुतः वही ठीक से देखता है।

गुरु - गीता

– डॉ. जे. पी. शर्मा, गुरु आशीष सदन, पाँटा साहिब (हि.प्र.)

"श्री सद्‌गुरु परब्रह्मणे नमः"
गौरी पुत्र गणेश मनाऊँ,
अपने गुरु को शीष नवाऊँ।
शारदा मात पर बलि बलि जाऊँ,
गुरु गीता को पद्य में गाऊँ।।

श्री चन्द्रमोहन गुरुदेव को सुमिरत आठोयाम।
सद्‌गुरु चरणों में करूँ, कोटिन कोटि प्रणाम्।।
गुरुवर चरण सरोज पर, मन है भ्रमर समान।
माँगू श्री गुरुदेव से, दया वृष्टि का दान।।
गुरुवर कृपा जहाज है, चढ़े सो उतरे पार।
गुरु बिन ज्ञान मिलता नहीं, निगमागम का सार।
'गु' कहते अन्धकार को, 'रु' का अर्थ है नाश।
अन्धकार के नाश को, करता गुरु प्रकाश।

विनियोग

गुरु गीता के ऋषि सदाशिव प्यारे।
नाना भाँति छन्द हैं न्यारे।।
देव ऋषि गुरुदेव हैं सारे।
चारों फल के देने वारे।।
हों प्रसन्न गुरुदेव नमामी।
यह विनियोग करुँ मैं स्वामी।।
एक समय की कहूँ कहानी।
आये सूत जी गुणवर ज्ञानी।
सब ऋषियों ने घेरा पाया।
मुनि सूत को शीश झुकाया।

हे ऋषिसूत आप है, ज्ञानी।
गुरुगीता महातम करो वखानी।।
डगमग नैया पार लगाओ।
गुरु भक्ति का तत्व बताओ।।
कथन आपका मान कर, हम भी होंगे पार।
गुरु महिमा गाथा सुन, होगा सबका उद्धार।।
ऋषियों की सुन विनती, सूत महा विद्वान।
हो प्रसन्न कहने लगे, गुरु महिमा गुणगान।।
धन्य हैं आप ऋषि मुनि सारे।
उपकारी हैं विचार तुम्हारे।
तुम हो कुल भूषण मुनि ज्ञानी।
परोपकारी है आप की बानी।।
इससे भव सागर पार करेंगे।
सदा सुखी सानन्द रहेंगे।।
अपने गुरु को ब्रह्म ही जानो।
सब देवों को गुरुवर मानो।
जिनको गुरु की कृपा है प्यारी।
ऐसे प्रश्न करें उपकारी।
धन्य हैं जो गुरु सेवा करते।
गुरु चरणों पर मस्तक रखते।।
उनका जन्म सार्थक जानो।
कुल उद्धारक उनको मानो।

''माता पार्वती बोली''

एक समय की गाथा, सभी सुनो मन लाय।
कैलाशपति से पूँछती, गौरी सरल सुभाय।।
भक्ति का साधन कहो, योगीश्वर भरतार।
दोउ कर जोड़ पूँछती, मत करना इनकार।।
पर से भी पर आप हैं, सब देवों में सरदार।
जगत गुरु एक आप हो, सकल विश्व आधार।।
गुरु दीक्षा दे दो मुझे, अपनी सेवक जान।

इन चरणों की दास का, दूर करो अज्ञान।।

''शिव जी बोले''

शंकर जी कहने लगे, गौरी को समझाय।
महादेवी सुनने लगीं, गुरु महिमा मनलाय।।
हे गौरी तू धन्य है, धन्य हैं पित और मात।
तेरी रसना धन्य है, जिस मुख पूंछी बात।।
गुरु महिमा वर्णन करूँ, दूर होय सब पाप।
इससे ही संसार के, मिट जाँय सन्ताप।।

सुन गौरी गुरु महिमा गाउँ,
प्रथम गुरु को शीश झुकाऊँ।
गुरु के दो अक्षर साकार,
'गु' का अर्थ है महा अँधेरा।
'रु' करता है दूर अन्धेरा।।
अग्यान अन्धकार कहाता ।
ज्ञान प्रकाश गुरु ही कराता।।
तम–अज्ञान जो दूर करावे।
ज्ञान प्रकाशक गुरु कहावे।।
गुरु के चरण है कमल समान।
द्वन्द पाप के शत्रु महान।।
भव सागर से करते पार।
वही गुरु मेरे प्राणाधार।।
है नहीं और कुछ गुरु सिवाय।
सत्य कहूँ मैं तुम्हें सुनाय।।
गुरु पूजा में सबकी पूजा।
गुरुसम देव और नहीं दूजा।।
तंत्र मंत्र निगमागम सार।
स्मृति उच्चाटन और अभिचार।।
शैव शाक्त आदिक मत कहते।
भ्रम में जीव को बाँधे रहते।।
मूढ़ लोग नहीं जानते, प्यारे गुरु का रूप।

बिना गुरु के जा गिरे, महानरक के कूप।।
यज्ञ दान और वृत तीरथ करे हजार।
बिना गुरु सब शून्य है, निश्चय मन में धार।।
अपने हित के वास्ते, सदा करो उपकार।
इस उत्तम उपचार से, होता बेड़ा पार।।
ब्रह्मा विष्णु महेश, गुरु हैं त्रिय रूपा।
भक्तों के रखवारे, तारण भव कूपा।।
पिता से माता सौ गुणी, करती सुत सों प्यार।
माता से हरि सौं गुना, हरि से गुरु सौ बार।।
ध्यान करे गुरुमूर्ति का,
पूजा गुरु चरणों की।
मंत्र जपे गुरु कथन का,
गुरु कृपा मोक्ष है देती।।
सूखे कीचड़ पाप का,
सद्‌गुरु रवि समान।
पार होय संसार से,
गुरुवर नैया मान।।
दुख रूप अज्ञान से,
लेते गुरु बचाय।
जो पूजत गुरु के चरण,
उसे दुख कभी न सताय।।
योग सिद्धि और ज्ञान,
यदि चाहो मिल जाय।
गुरु चरणोदक पीवो सदा,
अपना शीश झुकाय।।
गुरु चरणोदक सम नहीं,
सप्त जलधि का नीर।
तीर्थ न समता कर सकें,
कह गये सिद्ध फकीर।।
अकाल मृत्यु से रक्षा करे, पुनर्जन्म नहीं होता।

गुरु चरणोदक पान करे, भवसागर पार है होता।।
गंगाजल है गुरु चरणोदक।
पान करे नित इसका सेवक।।
बचा हुआ भोजन करे, गुरु प्रसाद कर मान।
श्रद्धा भक्ति से करे, चरणोदक का पान।।
काशी क्षेत्र निवास यही है।
तीर्थराज प्रयाग यही है।।
निश्चय जानो गुरु ब्रह्म समान।
मानो गुरुवर है भगवान।।
गया और अक्षय वट गुरुदेव।
खोलें घट के पट गुरुदेव।।
गुरु चरणों पर तनमन वारें
नमो नमो गुरुदेव पुकारे।।
गुरु मंत्र जपो दिनरात।
गुरु बिन और न भावे बात।।
दर्श करे गुरुदेव का, करे पूर्ण विश्वास।
जपे गुरु के मंत्र को, होवे नहीं निराश।।
गुरु आज्ञा पालन करे, अन्य भावना त्याग।
गुरु के चरण सरोज में, सदा रहे अनुराग।।
गुरु आज्ञा परब्रह्म है, गुरु की दया महान।।
कृपा करें गुरुवर यदि, मिल जाते भगवान।।
गुरु कराता गुण का भाष।
गुरु करता है भ्रांति का नाश।।
देव भी दुर्लभ गुरुपद पावे।।
हां हां हू हू शीश झुकावे।।
गुरु आज्ञा सिर पर धारे।
गुरु पर अपना सब कुछ वारे।।
गुरु से कभी विमुख न होय।
वरना निर्जन वन में राक्षस होय।।
मन वच कर्म करे नित सेवा।

साष्टांग नमन करे गुरुदेवा।।
है मल मूत्र की नश्वर काया।
होगा तन एक रोज पराया।।
त्याग दे उसका भी अभिमान।
गुरु अर्पण कर देवे दान।।
जिधर गुरु के चरण हों प्यारे।
उस दिश प्रेम सहित सत्कारे।।
करे दण्डवत उधर को, श्रद्धा सहित प्रणाम्।
गुरु चरण प्रसाद से, पूरन होते काम।।
गुरु की चरण रज से, उत्पन्न होता ज्ञान।
उसी ज्ञान से चमकती, धर्म कर्म की शान।।
वही शान इस विश्व को, धारण कर दिखलाये।
ऐसे गुरुवर के चरणों में, मन भंवरा बन जाये।।
गुरु ब्रह्म का रूप हैं, गुरु हैं विष्णु महेश।
पार ब्रह्म गुरुदेव हमारे, काटें सकल कलेश।।
कृपा सिन्धु चैतन्य नमामी।
शाश्वत गुरुवर धन्य हो स्वामी।।
कलातीत सद्‌गुरु महाराज।
बिगड़े हुए बनावें काज।।
स्थावर जंगम करते वास।
चर और अचर सभी हैं दास।।
पूर्ण जगत में व्यापक गुरुदेव।
तत्व ज्ञान देवें, प्रभु देव।।
श्री चन्द्रमोहन गुरु धन्य हैं, धन्य हैं, धन्य है अलूपुर ग्राम।
अमृतसर प्रगटे दादा गुरु, श्री रामलाल धर नाम।।
महादेव ने जो कहा, सब गुण इनके बीच।
योगी बन विचरे सदा, शरण पाय जो नीच।।
गुरु से बढ़कर कोई नहीं, गुरु जगत का भूप।
सब देवों की आत्मा, गुरु विश्व का रूप।।
गुरु पूजन निशिदिन करो, गुरु चरणन मन लाय।

उनके भाग्य महान हैं, जो पूजें गुरुवर जाय ।।
श्री गुरुदेव की भक्ति से, मिले योग का ज्ञान।
योग से मिलता मोक्ष है, कोई न गुरु समान ।।
गुरु से नहीं कोई तत्व परे।
नेति नेति श्रुति जिसको करे।।
सदगुरु सेवा में लग जाओ।
मन वाणी से सेव कमाओ।
ब्रह्म गुरु प्रसाद गति पाई।
विष्णु गुरु प्रसाद प्रभुताई।।
शंकर महादेव कहलाये।
गुरु कृपा का अन्त न आये।।
देवादिक गन्धर्व सयाने।
गुरु सेवा की विधि नहीं जाने।।
मद अभिमान और प्रभुताई।
गिरे गढ़े में जो दुःख दाई।।
घाट घाट सब घूम दिखावे।
आवागमन में पुनि पुनि आवे।।
विमुख गुरु के शरण न पावे।
पड़कर गर्भ में वह पछतावे।।
सुन देवी गुरुवर का ध्यान।
भक्त को देता सुख महान।।
मुक्ति मुक्ति को देने वारा।
करता है तम में उजियारा।।
पार ब्रह्म गुरुवर भगवान।
ऐसे गुरुवर का कर ध्यान।।
पार ब्रह्म गुरुदेव हमारे।
जिनका ध्यान धरें हम सारे।।
ज्ञान विभूति छन्द से परे।
निर्मल सत्य श्रुति यश करे।।
व्योम समान व्यापक हैं स्वामी।

सर्व रूप उर अन्तर्यामी।।

ज्ञान बोध का रूप है, गुरुवर परम सुजान।
विचरत हैं ब्रह्माण्ड में, ब्रह्मानन्द महान।।

भक्तों के सर्वश्व हैं, योगीजनों के भूप।
सद्गुरुदेव महान हैं, जगत रोग का रूप।।

मन मन्दिर में सदा, स्थित हैं गुरु महाराज।
देते हैं वह फल हमें, पूरन करते काज।।

रवि–शशि सम सदा, करें तिमिर का नाश।
श्री चन्द्रमोहन गुरुदेव का, मन में रहे प्रकाश।।

महाप्रभु श्री रामलाल का, स्वरूप करे प्रकाश।
योग साधना से यहाँ, होय पाप का नाश।।

शिव उवाच

माया रहित हैं बोध स्वरूप।
चेत–अचेतन सबके भूप।।
नित्य शुद्ध सहित आभास।
ऐसे गुरुवर का मैं दास।।
ब्रह्म स्वरूप गुरुदेव नमामी।
बुद्धि मेरी रहे निष्कामी।।
शिव कहते गुरु सबसे प्यारा।
शिव कहते गुरुदेव हमारा।।
शिव कहते गुरु सम नहीं कोई।
ब्रह्मा विष्णु महेश भी होई।।
मम् उपदेश से गुरु सर्वेश्वर।
मम् आदेश से गुरु परमेश्वर।।
गुरु का ध्यान ज्ञान उपजावे।
गुरु की कृपा अमर कर जावे।।
गुरु निन्दा कबहुँ न करे।
प्राणी घोर नरक में परे।।

जब तक नश्वर देह है, करे गुरु मंत्र का जाप।
गुरु मंत्र के जाप से, कटते जन्म जन्म के पाप।।

(क्रमशः)

योग योगेश्वर प्रभु रामलाल और आध्यात्म

डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी

मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है फिर भी दुखी रहता है क्योंकि – ''सांसों की सीमा निश्चित है, इच्छाओं का अंत नहीं है...'' जिन्होंने सांसों पर अधिकार कर लिया और इच्छायें वश में है सच्चे अर्थों में वही सुखी है। भारतीय मनीषा ने जंगलों में बैठकर दूरदृष्टि के आधार पर यह निर्णय दिया कि आध्यात्मिक उत्थान हेतु पृथ्वी का कौन सा भाग किस काल में महत्वपूर्ण होगा। यह बात संहिताओं में लिपिबद्ध भी की ताकि न विस्मरण हो सके और न उसे कपोलकल्पित ही कहा जा सके। उन्होंने यह भी निर्धारित किया कि किस काल खण्ड में किस प्रकार की उपासना ग्रहों की अनुकूलता के अनुरूप होगी और तन मन की शुद्धता और ऊर्ध्वगति के लिए लाभकारी भी। इतना ही नहीं उन्होंने गणितीय (ज्योतिष) आधार पर यह भी निर्धारित कर दिया था कि उस व्यक्ति के उत्थान के लिए कौन ऋषि अथवा अवतार अनुकूल और सहायक होगा। यहाँ पर उद्‌धृत करना समीचीन होगा कि हरिद्वार के एक कुम्भ पर्व पर श्री प्रभुजी हरिद्वार पहुँचे, सवांई ग्रामवासियों से दूर बचकर निकल गये। शिष्यों द्वारा जिज्ञासा करने पर उन्होंने कहा कि इनसे क्या बात करें, अभी तो इनको मेरे समीप लाने वाला ही (यह संकेत पूज्यपाद गुरुदेव चन्द्रमोहन जी के लिए था) नहीं आया है।

नारद ऋषि ने भक्ति को अमृत 'सा अमृत स्वरूपो और योग को उस अमृत प्राप्ति का साधन भी बताया है। इतना ही नहीं उन्होंने भक्ति किसकी श्रेष्ठ होगी– यह भी निर्धारित कर दिया और आलम्ब बताये सद्‌गुरु। यह इस देश का सौभाग्य रहा है कि यहाँ कभी भी गुरु और गुरुकृपा का अभाव नहीं रहा और **''जब जब होय धर्म की हानी... तब तब हरि धरि मनुज शरीरा, हरहिं कृपा कर सज्जन पीरा''** को चरितार्थ करते रहे हैं। उसी श्रृंखला में श्री प्रभु जी सज्जनों (संस्कारी) की पीड़ा हरने के लिए अवतरित हुए। उन्होंने योग ध्यान और शक्तिपात के माध्यम से अनेकों कृपायें की और जैसी जाकी चाकरी तैसी ताको देय वाली' कहावत भी चरितार्थ की।

चूँकि श्री प्रभूजी देहधारी थे अतः देहावसान भी होना था अतः संस्कारी पुरुषों के आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में मेरे श्री गुरुदेव (योगिराज चन्द्रमोहन) को दायित्व सौंपकर तिरोधान हो गये।

श्री गुरुदेव के अतिरिक्त श्री प्रभूजी ने अन्य शिष्य भी छोड़े जैसे योगिराज श्री मुलखराज जी –जिनकी शिष्य परंपरा में योगिराज श्री देवीदयाल आदि तथा दक्षिण भारत के लिए योगिराज नृसिंह मूर्ति की परम्परा जन समुदाय को लाभान्वित कर रही है। श्री गुरुदेव की

शिष्य परम्परा में टाट–बाबा रघुनन्दन प्रसाद तथा अन्य अनेक शिष्य हिमालय में बैठे हैं। श्री गुरुदेव (चन्द्रमोहन जी) द्वारा पुन: स्थापित– सवांई आश्रम एत्मादपुर में आचार्य डॉ. दासलाल उस उत्तराधिकार परम्परा के वाहक हैं। सवांई आश्रम में ही आदरणीय दीदी योगरानी डॉ. उमा शर्मा भी आश्रम का गौरव बढ़ा रही हैं।

गुरुकाल और बाद में अन्य नवीन आश्रमों की स्थापना और योग परंपरा की प्रगति हेतु उ.प्र. की राजधानी लखनऊ में श्री गुरुदेव के शिष्य – योगिराज ओमप्रकाश जी हैं तो राजस्थान की राजधानी जयपुर में योगिराज मनोहर तिवारी श्री प्रभुजी द्वारा आविष्कृत जीवन तत्व साधन समेत बड़े मनोयोग से योग प्रचार में लगे हुए हैं। दिल्ली आश्रम (राजाजी पुरम) में भाई वेदराम जी, ऋषिकेश में पूर्णचन्द्र शर्मा, 'मण्डी' हिमाचल प्रदेश में भाई हरीसिंह जी और 'कांगड़ा' हिमाचल प्रदेश में और सवांई से उद्भूत अनेक साधक एवं योगी पुरुष श्री प्रभूजी और श्री गुरुदेव के बताये मार्ग पर, 'कबीर' के शब्दों में – 'अमर पंथ की गैल बतावै–गावै सद्गुरु वाणी के कार्यक्रम में अग्रगामी हैं। कुछ अन्य गुरुभाइयों के नाम इस समय स्मृति पटल पर नहीं आ पा रहे हैं अत: उनसे अगले वार्षिक अंक तक की क्षमा याचना के साथ आगे बढ़ता हूँ।

प्रत्येक युग में, प्रत्येक व्यवस्था में श्री राम हों अथवा श्री कृष्ण प्रतिगामी शक्तियाँ पैदा होती रही हैं तो आज फिर, वह भी कलयुग में, अपवाद कैसा? मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि श्री प्रभूजी सुधर जाने के लिए समय देते हैं और न सुधरने पर अचानक पटाक्षेप कर देते हैं। मेरा साधना पक्ष बहुत कमजोर है अत: मैं इस दरबार का याचक बन गया हूँ। मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यदि कोई श्री गुरुदेव (चन्द्रमोहन जी) के निम्नलिखित आदेश का पालन करे तो कुछ भी असंभव नहीं है। यह आदेश स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि द्वारा रचित 'आनन्द सतसई' के माध्यम से यों है : (1) बैठि करे आराधना, चलते फिरते नाम, (2) कर्म करे निष्काम हो फल दाता हैं राम। (3) ममता तजि समता करे, हित अनहित नहिं कोय, (4) प्रभु जिसमें राजी रहें अपनी राजी होय ।।

यहाँ प्रश्न उठता है कि बहुत से व्यक्तियों को और मुझे भी यह शिकायत रही है कि जाने प्रभूजी क्या कर रहे हैं, क्यों नहीं सुन रहे? शंका का प्रभू ने एक दोहे से समाधान करा दिया –

'फरियाद अगर प्रभू ने तुम्हारी नहीं सुनी, कोई कमी तो होगी तुम्हारी पुकार में।'

मैं गृहस्थ हूँ, स्वार्थी हूँ, अत: कबीरदास का सहारा लेता हूँ –

'नयना अंदर आवतू, पलक झांपि तोहि लेहुँ। ना मैं देखूँ और कों, ना तोहि देखन देहुँ।।'

यह प्रवृत्ति पूंजीवादी है कि 'ना तोहि देखन देउ' अत: मेरे मन में नहीं है। श्री प्रभूजी के पावन प्राकट्य अवसर पर कबीर की इसी संशोधित प्रार्थना के साथ अपने श्री गुरुदेव पूज्यपाद चन्द्रमोहन जी के चरणों का स्मरण करते हुए लेखन को विराम देता हूँ।

सम्पर्क : 1 प्रोफेसर कॉलोनी, गोरखपुर, फोन नं. : 0551–2200036

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो

– डॉ. रमेश सिंह, प्राचार्य, गोरखपुर

मनुष्य निसर्गत: अभ्यास से आरोपित होता है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो प्रथमदृष्टता अपने बाह्य परिवेश से परिचित होता है। जो इन्द्रियों से दृष्टिगोचर होता है वह सत्य परिलक्षित होता है। किन्तु चिन्तन मनन के उपरान्त यह बोध होने लगता है कि जो दिखाई पड़ रहा है वही सत्य नहीं है। गहन विचार में यह परिलक्षित होता है कि जगत में कुछ भी शाश्वत नहीं है। हर चीज परिवर्तन शील है, प्रत्येक वस्तु की स्वाभाविक परिणति नष्ट होना है। जब सभी चीजें अनित्य है तो प्रश्न उठता है कि इस अनित्य के पीछे मनुष्य क्यों भागता है? सृष्टि के आदिकाल से ही दो चिन्तन धारायें अविकल रूप से प्रवाहमान है – एक भौतिकवाद से पोषित चिन्तनधारा जिसे पदार्थवाद भी कहते है तथा दूसरी अध्यात्मवाद से आप्लावित चिन्तन धारा जिसके चिन्तन के केन्द्र में चेतना की प्रमुखता है, जिसमें चेतना से पदार्थ की व्याख्या की जाती है। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि भौतिकवाद अध्यात्मवाद की विरोधी विचारधारा है। सिद्धान्तवादी लोग अपने सिद्धान्त की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अनेक तर्कों का सहारा लेते हैं तथा अपने मत को स्थापित करने के लिए नित नये तर्क गढ़ते भी रहते हैं। किन्तु अब यह बात लगभग साफ हो चुकी है कि पदार्थ व चेतना में वह आत्यन्तिक विरोध नहीं है जैसा कि लोग समझते हैं।

भौतिकवाद अध्यात्मवाद की पूर्व पीठिका है। भौतिकवाद ठीक ढंग से विकसित हो तो उसकी तार्किक परिणति अध्यात्मवाद में होती है। भौतिकवाद की स्थापना के मूल में धन है। धन से मनुष्य सन्तुष्ट हो सकता है क्या? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा क्योंकि यह देखने में आता है कि जिसके पास जितना ही धन है, वह उतना ही धन की साधना में लगा हुआ है। कठोपनिषद में इस प्रसंग का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया गया है। यम नचिकेता के समक्ष अनेक प्रलोभनों को रखते हैं, स्वर्गादि के भोगों का भी प्रस्ताव रखते हैं किन्तु नचिकेता इससे भ्रमित न होकर बहुत ही मार्मिक बात कहता है कि धन से मनुष्य सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। इसके तात्विक विश्लेषण में जायें तो यह स्पष्ट होता है कि धन मनुष्य के लिए आवश्यक है। धन निरर्थक नहीं है। मनुष्य की समस्त भौतिक आवश्यकतायें धन से ही पूरी होती हैं। कठिनाई तब आती है जब धन को जीवन का साध्य मान लिया जाता है तथा मनुष्य के सारे कार्य व्यापार धनके लिए होने लगते हैं। यहीं पर जीवन की विद्रूपता का प्रारम्भ होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धन साधन है साध्य नहीं। नचिकेता यह कहता है कि आप द्वारा दी जाने वाली सभी सुख सुविधायें एक समय के बाद समाप्त हो जायेगी। ये सदा नहीं रह सकती है। यहाँ तक कि स्वर्ग का सुख भी मनुष्य के पुण्य क्षीण हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जो वस्तु क्षणिक है, अनित्य है, उसे प्राप्त करने की अभिलाषा रखना बुद्धिमता नहीं है। इन सब

तर्कों के आधार पर नचिकेता यह कहता है कि धन से कोई मनुष्य सन्तुष्ट नहीं हो सकता। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि धनवान से धनवान व्यक्ति भी और अधिक धन अर्जित करने के लिए प्रयासरत रहता है। अब यह प्रश्न उठता है कि ऐसी कौन सी चीज है जो मनुष्य को संतुष्ट कर दे। जिसे प्राप्त करने के बाद अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा शेष न रहे। ऐसी सत्ता जो किसी पर भी आश्रित न हो, अपने में ही पूर्ण हो। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं जो आत्मतुष्ट हो वही संतुष्ट हो सकता है। गीता में भी इसकी पुष्टि की गयी है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर नचिकेता यम से आत्मविद्या के बारे में तीसरा व अन्तिम प्रश्न पूछता है। यम उसे नाना प्रकार के प्रलोभनों के आकर्षण में बांधना चाहते थे किन्तु वह उससे प्रभावित नहीं हुआ तथा अपने प्रश्न पर अडिग रहा। इस प्रकार यमराज के समझ में यह बात आ गई कि नचिकेता दृढ़ निश्चयी, परम वैराग्यवान एवं निर्भीक है, अत: वह ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी है।

नचिकेता के मन में धन की नि:सारता का बोध इतना गहरा था कि यम के प्रलोभन नचिकेता को विचलित नहीं कर सके। इसी बात को कठोपनिषद् के प्रथम वल्ली के 27वें श्लोक में बहुत ही सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है–

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो,

लप्स्यामहे वित्तमद्राक्षय चेत् त्वा।

जीविष्यामो यावदीशिष्यति त्वं,

वरस्तु मे वरणीय: स एव।। वल्ली।। 27

इसका अभिप्राय यह है कि धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। आग में घी आदि ईंधन डालने से जैसे आग जोरों से भड़कती है उसी प्रकार धन और भोगों की प्राप्ति से भोग–कामना का और भी विस्तार होता है। नचिकेता यम से कहता है कि कोई भी बुद्धिमान पुरुष धन एवं भोगों को नहीं माँग सकता। जीवन निर्वाह हेतु जितना धन आवश्यक है वह तो यम के दर्शन मात्र से ही मिल जायेगा तथा जब तक मृत्यु के पद पर यम का शासन है तब तक उसके जीवन को भी कोई संकट नहीं है। अत: उसे मरने का कोई भय नहीं है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से कोई दूसरा वर मांगना उचित नहीं प्रतीत होता है। इसलिए वह आत्मविषयक प्रश्न पर अटल है।

सामान्य रूप से जीव दो जीवन–सरणियों में से अपने स्वभाव के अनुकूल किसी एक का चुनाव करता है। कठोपनिषद में इन दो मार्गो को क्रमश: श्रेय व प्रेम के नाम से अभिहित किया जाता है। कठोपनिषद् की द्वितीय वल्ली के प्रथम श्लोक में यमराज कहते हैं कि –

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय

स्ते उभे नानार्थेपुरुषँसिनीत:।

तयो श्रेय आददानस्य साधु

भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते।।(1)

इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य-शरीर अन्याय योनियों की भांति केवल कर्मो का फल भोगने के लिए नहीं मिला है। इसमें मनुष्य भविष्य में सुख देने वाले साधन का अनुष्ठान भी कर सकता है। वैदिक साहित्य में सुख के दो साधन बताये गये हैं। प्रथम श्रेय अर्थात् सदा के लिए सब प्रकार के दुखों से सर्वथा मुक्त होकर नित्य आनन्द स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करने का उपाय और द्वितीय प्रेय अर्थात् इहलौकिक एवं स्वर्ग लोक की जितनी भी प्राकृत सुख भोग की सामग्रियाँ हैं, उनकी प्राप्ति का उपाय। इस प्रकार अपने-अपने ढंग से मनुष्य को सुख पहुंचा सकने वाले ये दोनों साधन मनुष्य को बांधते हैं। उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। अधिकांश लोग प्रेय की तरफ आकर्षित होते है क्योंकि उन्हें प्रतीत होता है कि भोगों में तत्काल व प्रत्यक्ष सुख मिलता है। ऐसे लोग भोगों के परिणाम पर विचार किये बिना प्रेय की तरफ आकृष्ट हो जाते हैं। परन्तु कोई-कोई विरला पुरुष भगवद्कृपा से प्राकृत भोगों की आपातरमणीयता एवं परिणाम दुखता का रहस्य जानकर इनकी ओर से विरक्त होकर श्रेय की ओर आकर्षित हो जाता है। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में से जो भगवान की कृपा का पात्र होकर श्रेय को अपना लेता है और तत्परता के साथ उसके साधन में लग जाता है, उसका तो सब प्रकार से कल्याण हो जाता है। वह सदा के लिए सब प्रकार के दुःखों से सर्वथा मुक्त होकर अनन्त असीम आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। परंतु जो सांसारिक सुख के संधान में लग जाता है, वह अपने मानव जीवन के परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति रूप यथार्थ प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता। इसलिए उसे आत्यन्तिक व नित्य सुख नहीं मिलता। उसे भ्रमवश सुख रूप प्रतीत होने वाले वे अनित्य भोग मिलते हैं, जो वास्तव में दुःख रूप ही हैं। अतः वह वास्तविक सुख से वंचित हो जाता है।

भोग की मीमांसा करने पर ज्ञात होता है कि भोग मनुष्य को निर्बल व निरीह बना देता है। मनुष्य सोचता है कि वह भोगों को भोग रहा है किन्तु वास्तव में भोग ही मनुष्य को भोग रहे होते हैं। अधिकांश मनुष्य तो पुनर्जन्म में विश्वास न होने के कारण इस विषय पर विचार ही नहीं करते और देव दुर्लभ मानव शरीर को पशुवत भोगों में ही नष्ट कर देते हैं किनतु जो मनुष्य विचारशील हैं, जब उनके समक्ष श्रेय व प्रेय उपस्थित होते हैं, तब वे इन दोनों के गुण-दोष पर विचार करके उन्हें पृथक-पृथक समझने का प्रयत्न करते हैं। जो व्यक्ति धीर मति होता है वह दोनों के तत्व को पूर्णतया समझ कर नीर क्षीर विवेकी हंस की तरह प्रेय की उपेक्षा करके श्रेय का वरण कर लेता है किन्तु जो विवेकवान नहीं है वह श्रेय के फल में अविश्वास करके प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले लौकिक योग क्षेम की सिद्धि के लिए प्रेय को अपना है। इस प्रकार वह अपने वास्तविक कल्याण से वंचित रह जाता है। कठोपनिषद् के द्वितीय वल्ली के दूसरे श्लोक से इस बात की पुष्टि होती है -

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः, स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। 2।।

महाराज भर्तृहरि ने भी अपने वैराग्य शतक में भोग का बहुत ही तात्विक विवेचन किया है –

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता, कालो न यातो वयमेव याता।
तपो न तप्तम वयमेव तप्ता, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।।

कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य भोगों को भोगने के क्रम में स्वयं काल के गाल में समा जाता है। भोग ज्यों का त्यों बने रहते हैं। किन्तु महान आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना सब होते हुए भी मनुष्य भोगों की तरफ आकृष्ट होता है तथा भोगों से मुक्त होने की बात नहीं सोचता। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है? भोगों को चिर शाश्वत मानकर उसमें रमण करने वाला मनुष्य भी कालान्तर में यह अनुभव करता है कि वह भोगों को भोगने में असमर्थ होता जा रहा है। फिर भी वह भोगों के आकर्षण से अपने को मुक्त नहीं कर पाता। इस पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि इसके मूल में जीव का जन्म जन्मान्तर का संस्कार है जो उसे भोगों के प्रति उन्मुख किये रहता है। हमारे कर्माशय में जो कर्मसंस्कार पड़े रहते हैं वे हमें कर्म के जंजाल में फंसाते हैं और हम कर्म के दलदल में फंस जाते हैं तथा भोगों से कभी निवृत्ति नहीं होती। वर्तमान में जो हम कर्म करते हैं उसके भी संस्कार हमारे मानस पटल पर अंकित होते रहते हैं तथा कर्म की एक निश्चित धारा बनती रहती है। इस प्रकार हम भोगों के जटिल जाल में उलझते रहते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हम इससे मुक्त नहीं हो सकते या हम इससे मुक्त कैसे हो सकते हैं? यदि हम भोग के दर्शन को भलीभांति समझने का प्रयास करें तथा तात्विक रूप से उसका विश्लेषण करें तो भोग से मुक्त हो सकते हैं। यदि हम जागरूक होकर भोग करें तो उससे मुक्त हो सकते हैं। भोग का भी एक मनोविज्ञान है। यदि हम निरन्तर सजग होकर कर्म करें तो हम उस कर्म से मुक्त हो सकते हैं। सजगता से अभिप्राय है कि हम प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक (Aware) हो जाय। जागरूक होकर कर्म करने से हम कर्म श्रृंखला से गुजर कर उसके पार चले जाते हैं। इस प्रकार यदि हम कर्म करने की कला से युक्त होकर कर्म करें तो हमें कर्म बन्धन व्याप्त नहीं होंगे। कर्म करने की कला का तात्पर्य यह है कि कर्म करते हुए हम कर्तव्य भाव से मुक्त हों। किन्तु कर्तत्व भाव से मुक्त होकर कर्म करना सहज है क्या? इसके लिए निरन्तर चिन्तन मनन एवं अभ्यास की आवश्यकता है।

भोगों से मुक्त होने के सम्बन्ध में भी दो तरह के विचार प्राप्त होते हैं – प्रथम, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है जिसमें मनुष्य प्रयास करके चिन्तन व मनन के द्वारा अभ्यास पूर्वक भोगों से पार जा सकता है। द्वितीय मत के अनुसार बिना भगवद कृपा जीव भोगों से मुक्त नहीं हो सकता। कृपामार्गी साधकों का यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक इष्ट की कृपा नहीं होगी मनुष्य श्रेय मार्ग की तरफ उन्मुख नहीं हो सकता। इसमें इष्ट के प्रति जीव के पूर्ण समर्पण की अपेक्षा की जाती है। किन्तु जब तक अहं का विसर्जन नहीं होगा तब तक समर्पण नहीं होगा। इष्ट के

प्रति शरणागति का भाव जीव को अनेक विकारों से मुक्त कर देता है और उसे कल्याण के पथ पर अग्रसर कर देता है। इसी भाव को कबीर साहब व्यक्त करते हैं – हम न मरै मरिहै संसारा, हमें मिला जियावन द्वारा।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इष्ट के प्रति शरणागत होकर हम सजग होकर कर्म करते रहें तो कर्म की जटिल संचरना से मुक्त होकर भोगों के दलदल से निकलने में अवश्य सफल होंगे।

●●●

गुरु की नजरे-करम

पूजा पाण्डेय, उन्नाव

तर्ज :

उनकी नजरे–करम का, असर देखिए।
प्यार देता हुआ, हर बशर देखिए।।

देखती तक न थी, जिसको कोई नजर।
बेकरार देखने, हर नजर देखिए।।

उनकी नजरे–करम, छू गई है जिसे।
उसको बदला हुआ, हर कदर देखिए।।

उनने सोना बनाया है, लोहे को छू।
वह दमकता दिखेगा, जिधर देखिए।।

उनकी नजरे–करम पर, जिसे फक्र है।
उसको भटका, इधर न उधर देखिए।।

प्यार देता दिखेगा, सभी को अरे।
प्यार से छल–छलाता, जिगर देखिए।।

देखिएगा उसे, अपना सुख बाँटते।
दु:ख बँटाने को, नजरों को तर देखिए।।

बस, यही है, फरिश्तों की पहचान भी।
वो जिधर जाएं, जन्नत उधर देखिए।।

●●●

श्री सद्गुरु करैं सो होय

– डॉ. विजय सिंह

सिद्धयोग मार्ग में आरुढ़ साधक को श्री सद्गुरु की महत्ता व उनकी अलौकिक कृपा का भान अवश्य होता है। जन्म–जन्मान्तरों के पुण्य–पाप सम्बन्धित कर्म संस्कारों का भोग सद्गुरु दीक्षा प्राप्त करते ही प्रारम्भ हो जाता है। सच यह है कि ब्राह्मी सृष्टि द्वारा नियमन किया गया प्रारब्ध–भोग ब्रह्मा के नियमन द्वारा जीव एक व्यवस्थित क्रम में संसार में भोगा करता है। यह सब प्रकृति द्वारा सहज संचालित होता है। जीव का कर्म भोग अत्यन्त धीमे गति से तब तक चलता रहता है जब तक सृष्टि प्रलय के समय सब कुछ अनुलोम क्रम से सिमट कर ब्रह्म में प्रसुप्त भाव से लीन नहीं हो जाता। कालान्तर में पुनः सृष्टि संरचना के समय जब लोक लोकान्तरों की व्यवस्था सम्पन्न होने पर वे प्रसुप्त जीव पुनः कर्मानुसार जन्म लेते हैं और पुनः उनका जन्म मरण चक्र चल पड़ता है। यह प्रसुप्तावस्था मोक्ष नहीं है।

दूसरा पक्ष है, समर्थ सद्गुरु के द्वारा दीक्षा प्राप्त जीवों का। दीक्षित शिष्य व शिष्या जो सद्गुरु आज्ञानुवर्ती होकर साधना में लग जाते हैं वे ब्रह्मा के व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं होते। उनके कर्म (संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण) सद्गुरु कृपा आधीन हुआ करता है। गुरु–भक्ता सहजो बाई ने इस परम अर्थ में गूढ़ रहस्य को 'करता करै न कर सकै, सद्गुरु करै सो होय' कही है। तात्पर्य यह कि दीक्षित जीव के कर्मभोग उसके सद्गुरु की किये व्यवस्थानुसार भोग में आते हैं और साधक के साधना की तीव्रता सद्गुरु शरणागतता के आधार पर वह कर्म–भोग सूक्ष्म में (ध्यान अवस्था द्वारा) सूक्ष्माति सूक्ष्म में (सम्प्रज्ञात समाधि के उच्चावस्था में) अनवरत नष्ट होते रहते हैं। जड़ (पिण्ड एवं सूक्ष्म पिण्ड) तथा चेतन की गांठ विवेक ख्याति एवं ऋतम्भरा रुपी बुद्धि के जागरण होने पर ब्राह्मी सृष्टि में जन्म जन्मान्तरों के कर्मो के बीज जो इकट्ठा कर्माशय में हुए थे वे विदग्ध हो जाते हैं। सद्गुरु शरणागत जीव इस प्रकार से यथार्थ मोक्ष कुछ जन्मों में ही प्राप्त कर ब्रह्म ऐक्यावस्था का अनुभव प्रतिपल करता हुआ प्रारब्ध शेष होने पर ब्रह्मरुप हो ब्रह्मलीन हुआ करता है। उसे महाप्रलय के दुस्तर प्रक्रिया में पड़कर ब्रह्म ऐक्यावस्था (प्रसुप्तता) की आवश्यकता नहीं होती।

सद्गुरु कौन ?

तात्विक – दृष्टि से इस सृष्टि में अनेक ब्रह्माण्ड हैं। इस बात की पुष्टि आधुनिक विज्ञान जहाँ देश–काल में विश्व संरचना का फैलाव व उसमें हमारे ब्रह्माण्ड से भी अधिक विस्तृत ब्रह्माण्ड समय की धारा में भागमभाग कर रहे हैं, करता है। पुराण में (गोविन्द पुराण) त्रिकालज्ञ ऋषियों ने बताया है कि एकार्णव के जल में निरन्तर अनगिनत ब्रह्माण्ड उसी प्रकार से तैरते हुए प्रवाह मान हैं जैसे तुम्बी (गोल लौकी) जल में प्रवाहमान होती है।

आनन्दकन्द श्री सद्गुरु भगवान प्रवचनों में कई बार यह उदाहरण दिया करते रहे हैं कि हमारे ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा, विष्णु, शिव एक बार देवी लोक में आद्या शक्ति के दर्शनार्थ अपने ब्रह्माण्ड का भेदन करके गये। वहाँ उस लोक में उस समय सहस्त्रों, ब्रह्मा, विष्णु, महेश उपस्थित थे। उनका तेज, ऐश्वर्यत्व इस ब्रह्मा, विष्णु, शिव से काफी अधिक था। कथन का तात्पर्य मात्र यह है कि हमारे ब्रह्माण्ड में हमारा सौर मण्डल और उसमें हमारी पृथ्वी जिस पर हम नर–नारी अनेक प्राणी जीव जन्तु स्थलचारी, जलचर, नभचर और असंख्य जीवाणु जगत रहते हैं, इन सबका भरण, पोषण जन्म–मृत्यु का विधान ब्रह्मा जी के हाथों में है। सर्व योनियों (स्थूल, वैवत आदि) में हम मनुष्य को मननशील होने के कारण सर्वोपरि माना गया है। अध्यात्म विद्या का सुयोग मानव मात्र के लिए है। मनुष्य जो सृष्टि के असीमता के सापेक्ष एक अति छुद्र परन्तु अद्भुत सृष्टा की संरचना है। हम साधना एवं तत्वदर्शी महापुरुषों की कृपा बल से ईशत्व की प्राप्ति करते हैं। योगी, महासिद्धों की अतुलित ऐश्वर्य के कारण उन्हें प्रभु एवं महाप्रभु की संज्ञा द्वारा विभूषित किया गया है। वे महापुरुष जिनमें सृष्टि संरचना स्थिति एवं प्रलय करने का सामर्थ्य होता है वे ही प्रभु संज्ञावान हैं।

कालक्रम को सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग इन चार भागों में बांटा गया है। सतयुग में सतोगुण की प्रधानता के कारण स्वभावतः उस काल में मानव सत्य परायण बहुधा होते थे। ऋत में उनका लोक व्यवहार था। छल–कपट से अनभिज्ञ थे। अतः स्वभावतः मनन शील, अन्तर्मुख, ध्यान समाधि परायण कुछ मानव ऋषि संज्ञा से जाने गये। वे प्रथम ऋचाओं के मंत्रों के दृष्टा हुए हैं। वैदिक काल के सर्वमान्य सप्तऋषियों में श्री वसिष्ठ जी का नाम महत्तम है। मृत्युनिवारक त्रयम्बक–मंत्र महर्षि वसिष्ठ जी ने मानव कल्याणार्थ दिया है –

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।

ऋक् 7/59/12

सतयुग में ऋषि वर्ग ही सद्गुरु स्वरूप हैं। तत्वदर्शी, ब्रह्मज्ञ अथवा आचार्य नामों से शास्त्रों में जाने गये हैं। "पितृवान, मातृवान, आचार्यवान पुरुषो वेद:" ब्रह्म को कोई पिता की भक्ति करने वाला, माता में प्रगाढ़ श्रद्धावाला तथा आचार्य में दृढ भक्ति, आज्ञाकारिता, समर्पण रखने वाला ही उस ब्रह्म को जानता है।

वैदिक काल में भी ऋषि शिष्य को आज्ञा में रखते हुए पात्रता का विकास कराकर ब्रह्मबोध कराया करते थे। सत्यकाम जाबाल ने गौतम ऋषि के पास जाकर प्रार्थना पूर्वक कहा – प्रभो! मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्य पूर्वक सेवा करने आया हूँ। आचार्य ने गोत्र पूछा? सत्यकाम ने कहा – प्रभो! मेरा गोत्र क्या है इसे मैं नहीं जानता। मैं सत्यकाम जाबाल हूँ बस इतना ही इस देह का परिचय मुझे है।

ऋषि प्रसन्न होकर बोले – वत्स! तुम्हारे सत्यवादिता से मैं प्रसन्न होकर अपना शिष्य

स्वीकार करता हूँ। सत्यकाम को दीक्षित करके आचार्य ने चार सौ दुर्बल गायों को उसे देकर कहा – वत्स! तू इन्हें वन प्रान्तर के चारागाहों में ले जा। जब तक इनकी संख्या एक हजार न हो जाय, इन्हें वापस न लाना। आचार्य के चरणों में दृढ़ श्रद्धावान सत्यकाम ने कहा – प्रभो! इनकी संख्या एक हजार हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।

वन में पूर्ण एकाग्रता एवं समर्पण पूर्वक सत्यकाम गुरुदेव के आदेश को तपश्चर्या पूर्वक पालन करता रहा। स्वयं आतप, वर्षा, शीत सहन करता परन्तु महर्षि के गौओं का अपने प्राण से भी ज्यादा संभाल एवं सुरक्षा करता रहा। वर्ष व्यतीत होते गये धीरे–धीरे गायों की संख्या एक हजार हो गयी। आश्चर्य घटित हुआ। एक वृषभ ने सत्यकाम से बोला – वत्स! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है अतः अब तुम हमें आचार्य जी के पास ले चलो। तुम्हारी सेवा, सद्गुरु निष्ठा से मैं प्रसन्न हूँ, अतः ब्रह्मतत्व के सम्बन्ध में तुम्हें एक अनुभूति मैं कराता हूँ। सावधान होकर ग्रहण करो – वह ब्रह्म 'प्रकाशस्वरूप' है। स्वयं बोध करो और आगे अग्नि द्वारा तुझे ब्रह्मबोध कराया जायेगा।

गायों को प्रेम पूर्वक लेकर वन प्रान्तरों से होते हुए सत्यकाम संध्या होने पर उनका जल, घास से पोषण कर रात्रि–निवास की व्यवस्था हेतु अग्नि जलाया। दूसरा आश्चर्य अग्नि देव स्वयं प्रकट हो बोले – सत्यकाम! ब्रह्म अनन्त लक्षण वाला है। इसका तुम चिन्तन द्वारा बोध करो। तीसरे दिन सायं विश्राम काल एक सुन्दर जलाशय के पास हुआ उसी समय एक दिव्य हंस आकाश से उतर कर सत्यकाम के पास बैठा और बोला सत्यकाम! ब्रह्म ज्योतिष्मान् है तुम उसे अभी अनुभव करो। चौथे दिन इसी प्रकार विश्राम काल में एक जलमुर्ग आकर बोला– सत्यकाम! ब्रह्म 'आयतनस्वरूप' है। सब कुछ उसी से आच्छादित है। इन चारों बोधों से परिपूर्ण सत्यकाम सहस्त्र गौओं के साथ आचार्य गौतम के चरण कमलों में पहुँच साष्टांग प्रणाम किया। आचार्य ने प्रसन्नता से उसे उठा आलिंगन करते हुए बोले – सत्यकाम! तुम ब्रह्मज्ञानी के सदृश दिखलायी पड़ते हो क्या बात है ?

विनम्रता पूर्वक चिन्तारहित, तेजपूर्ण मुखकान्ति वाला सत्यकाम ने कहा – प्रभो! मुझे समय–समय पर मनुष्येतर प्राणियों द्वारा ब्रह्म विद्या का उपदेश प्राप्त हुआ है परंतु प्रभो! मुझे तो आप जैसे आचार्य से ब्रह्मोपदेश प्राप्त करना है। ऋषि गौतम ब्रह्मज्ञ सत्यकाम पर अति प्रसन्न हो पूर्ण रूप से उपदेश देते हुए बोले जो तुमने प्राप्त किया है वही ब्रह्मतत्व है उसका अभ्यास करते रहने से उस ब्रह्म स्थिति में तुम्हारा सदैव अवस्थान होगा।

अतः सद्गुरु आज्ञावर्ती होने पर प्राचीन वैदिक काल में भी शिष्य पूर्णत्व प्राप्त सद्गुरु कृपा से होते रहे हैं। आरुणी, उद्दालक आदि की कथायें लेख के शीर्षक 'सद्गुरु करैं सो होय' को ही चरितार्थ करती हैं।

● ● ●

संयम द्वारा प्रातिभज्ञान तथा सिद्धियाँ

– प्रो. ऋषिराम शर्मा

भौतिक विज्ञान तथा प्रातिभज्ञान में बहुत बड़ा अन्तर है। भौतिक विज्ञान के परीक्षण के लिए भौतिक साधन तथा वैज्ञानिक की बुद्धिसामर्थ्य पर निर्भरता है जबकि प्रातिभज्ञान के लिए ऐसी कोई निर्भरता नहीं है, अपितु संयम की योग्यता की आवश्यकता है। संयम की योग्यता के लिए अष्टांगयोग की सिद्धि चाहिए। भौतिक विज्ञान का क्षेत्र तथा फल दोनों सीमित हैं, जबकि प्रातिभज्ञान का क्षेत्र तथा फल दोनों असीमित तथा कल्पनातीत हैं। जब तक इन्द्रियाँ अपने विषयभोगों में आसक्त हैं और मन उनका अनुगमन करता है तथा बुद्धि मन की वृत्तियों को ग्रहण करती है तब तक सामान्य शब्दज्ञान ही रहता है तथा प्रातिभज्ञान का विकास नहीं होता, आध्यात्मिक ज्ञान भी शास्त्रज्ञान तथा महात्माओं से प्राप्त श्रुतज्ञान तक सीमित रहता है। इस ज्ञान से आत्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं। शास्त्र इसकी पुष्टि करते हैं कि –

न गच्छति बिना पानं व्याधिः औषधशब्दतः।
बिना अपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैः न मुच्यते।।

अर्थात् जिस प्रकार केवल औषधि का नाम लेने मात्र से बिना उसका सेवन किये रोग नहीं जाता यानि रोगमुक्ति नहीं मिलती, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के शब्दों का उच्चारण करने मात्र से उसकी चित्त में अपरोक्ष अनुभूति किये बिना मोक्ष नहीं मिलता। अतः अपरोक्ष अनुभूति के लिए अष्टांगयोग की साधना की सिद्धि अत्यावश्यक है। इस साधना से चित्त में विशेष परिवर्तन होते जाते हैं, क्योंकि –

''तज्जयात् प्रज्ञालोकः''

अर्थात् योगसिद्धि से प्रज्ञालोक यानि ज्ञानचक्षु की प्राप्ति होती है, प्रज्ञा की सात प्रान्तभूमियों में विशुद्ध बुद्धि का प्रवेश होता है। योगदर्शन का कथन है कि –

''तस्य सप्तधा: प्रान्तभूमिः प्रज्ञाः''

अर्थात् जब साधना की सिद्धि से निर्मल विवेकख्याति के द्वारा चित्त का मलावरण नष्ट हो जाता है तब सात प्रकार की उत्कर्ष अवस्था वाली प्रज्ञा (विशुद्ध बुद्धि) की प्राप्ति होती है। चित्त में तीन विशेष परिणाम यानि, एकाग्रतापरिणाम, समाधिपरिणाम तथा निरोधपरिणाम प्रकट होते हैं तथा विशुद्ध बुद्धि में सात विशिष्ट अवस्थायें प्रकट होती हैं, वह हैं –

(1) ज्ञेयशून्य अवस्था जिसमें सभी ज्ञातव्य का ज्ञान प्रकट हो जाता है।

(2) हेयशून्य अवस्था जिसमें दृष्टा तथा दृश्य के एकात्मक संयोग का अभाव होने से भ्रान्तिज्ञान नष्ट हो जाता है।

(3) प्राप्यप्राप्त अवस्था जिसमें कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता।

(4) चिकीर्षाशून्य अवस्था जिसमें कृतार्थता की अनुभूति होती है।

(5) चित्तमुक्ति अवस्था जिसमें चित्त में संचित कर्माशय का नाश हो जाता है।

(6) गुणलीनता अवस्था जिसमें माया के गुण पुरुषार्थशून्य होकर अपनी कारणरूपा प्रकृति में लीन हो जाते हैं।

(7) आत्मस्वरूपा अवस्था जिसमें अविद्यामुक्त चित्त आत्मज्योति से प्रकाशित हो जाता है।

उपरोक्त प्रज्ञा की भूमियों में संयम करने से प्रातिभज्ञान की योग्यता प्राप्त होती है। संयम के लिए समाधिसिद्धि की योग्यता चाहिए। समाधि के भी अनेक भेद हैं। चार संप्रज्ञात समाधि हैं, दो असंप्रज्ञात समाधि हैं तथा सातवीं निर्बीज समाधि वितर्कानुगत समाधि ध्येय प्रत्यय स्थूल है तथा वह नाम, रूप तथा अर्थ के साथ अपने समस्त अंग तथा प्रत्यांगों सहित चित्त में प्रकाशित होता है। इस समाधि में ध्येय के कार्यरूप का ज्ञान हो जाता है किन्तु कारणरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। यह सब कैसे होता है इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अनुभूति का विषय है। बाह्य जगत में भी स्वाद जैसी अनुभूतियाँ शब्दों में पूर्णरूपेण वर्णन नहीं की जा सकती। सर्वज्ञ महर्षि पतंजलि ने इसका संकेतमात्र दिया है कि –

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु।
तत्स्थतदंजनतासमापत्तिः।।

(योगदर्शन 1/41)

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ।
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।।

(योगदर्शन 3/9)

अर्थात् जब ध्येयवृत्ति के अतिरिक्त सभी चित्तवृत्तियों का पूर्ण अभाव हो जाता है अर्थात् चित्त के अन्य वृत्तियों को ग्रहण करने के स्वभाव पर अवरोध का अंकुश लग जाता है, केवल चित्त के संस्काररूप धर्मों में व्युत्थान के संस्कार दब जाते हैं और केवल वृत्तिनिरोध के संस्कार विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार चित्त निरोधसंस्कारों के अनुगत ही प्रकाशित रहता है। इसे चित्त का निरोधपरिणाम कहा गया है। इस अवस्था में चित्त स्फटिक मणि की भांति पारदर्शी तथा निर्मल होता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि में वह सभी चित्र तथा रंग प्रवेश किये हुए से दिखाई देते हैं जोकि उसके सम्पर्क में आने वाले माध्यम में होते हैं, उसी प्रकार निर्मल चित्त में ध्येयवृत्ति का सम्पूर्ण स्वरूप, उसको ग्रहण करने की क्षमता तथा ग्रहीता स्वतः प्रकाशित हो जाते हैं। समाधि से बाहर आने पर संस्काररूपी स्मृति के द्वारा उसका ज्ञान बुद्धि में प्रकाशित रहता है। इसी को "प्रातिभज्ञान" कहते हैं। अतः प्रातिभज्ञान के लिए दोनों समाधि की योग्यता तथा निर्मल चित्त की आवश्यकता होती है और तदनन्तर प्रज्ञा की भूमिकाओं तथा योगसिद्धियों में

प्रवेश होता है। जब तक ध्येयवृत्ति के नाम, रूप तथा ज्ञान के विकल्प विद्यमान रहते हैं तब तक उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है और जब नाम तथा रूप दोनों की विस्मृति हो जाती है और चित्त ध्येयाकार हो जाता है तब वह असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यदि ध्येय स्थूल है तब उसे निर्वितर्क समाधि कहा जाता है और यदि ध्येय सूक्ष्म है तब उसे निर्विचार समाधि कहा जाता है। यदि ध्येय सूक्ष्मविषय है तब ध्येय के शब्दार्थ का ज्ञान कराने वाली समाधि विचारसमाधि कही जाती है। निर्विचारसमाधि में जब ग्रहीता ध्येय की भी विस्मृति कर देता है और केवल आनन्द की अनुभूति करता है तब उसे आनन्दानुगत समाधि कहा जाता है। जब आनन्द की प्रतीति भी लुप्त हो जाती है और केवल ग्रहीता का अहंभाव ही शेष रह जाता है तब वह अस्मितानुगतसमाधि कही जाती है। इन समाधियों की अवस्थाओं से गुजरने के बाद चित्त में ईश्वर का ऐश्वर्य प्रकाशित हो जाता है और योगी अचिन्त्यशक्तिमान हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने इसका संकेत दिया है कि –

निर्माणचित्तानि अस्मितामात्रात्

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः

तज्जयात् प्रज्ञालोकः

निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्मप्रसादः

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्

तज्जः संस्कारः अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधन्निर्बीजः समाधिः

अर्थात् अस्मितानुगत समाधि सिद्ध हो जाने के बाद योगी में चित्तनिर्माण की अद्भुत शक्ति आ जाती है। निर्मित चित्त स्वतः ही प्रकृति से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राणशक्ति तथा स्थूल शरीर के अवयवों को आकर्षित कर लेता है, क्योंकि यह प्रकृति का स्वभाव है कि निमित्त संकल्प के द्वारा अवरोध हटते ही प्रकृति संकल्पित कार्य को तुरन्त पूर्ण कर देती है। यह सत्य कभी नहीं भूलना चाहिए कि संसार का प्रत्येक पदार्थ तथा प्रत्येक प्राणी का शरीर प्रकृति का कार्यमात्र है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई अपादान कारण तथा निमित्त कारण है और प्रत्येक कारण किसी अन्य कारण का कार्य है। सम्पूर्ण प्रक्रिया गुणात्मक है, इसीलिए प्रकृति मूलकारण है। शास्त्र इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि –

ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मनः''   (योगदर्शन 4/13)

ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिः स्वगुणैर्निगूढाम्।

सा कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एका।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः

परिणामैकत्वात् वस्तुतत्त्वम्

अर्थात् स्थूल तथा सूक्ष्म संसार के सभी पदार्थ प्रकृति के गुणों के द्वारा निर्मित हैं। सभी कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा ही किये जाते हैं। अविद्या द्वारा मोहित अज्ञानी जीव उन कर्मों में अहंभाव के कारण अपने को कर्ता मानते हैं और कर्मफल के रूप में सुखदु:ख का अनुभव करते हैं। वस्तुत: गुण ही गुणों में व्यवहार करते हैं और उनके भिन्न-भिन्न क्रमपरिणाम भिन्न-भिन्न वस्तुपरिणाम के कारण हैं। इसीलिए प्रत्येक वस्तु का स्वरूपगुणों का ही विशेष क्रमपरिणाम है। उदाहरण के रूप में प्रत्येक वृक्ष, उसकी पत्तियाँ, फूल तथा फल, पृथ्वी, जल, वायु तथा सूर्य-चन्द्र के रूप में अग्नि का ही विशेष परिणाम है। किन्तु ध्यान-समाधि के द्वारा सिद्धयोगियों ने यह प्रत्यक्ष अनुभूति की है कि परमात्मा की त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति ही संसाररचना की मूलकारण है, क्योंकि वही अनन्त कारण-कार्य की श्रृंखला की मूलकारण है, आधार है तथा काल एवं जीवन की एकमात्र प्रतिष्ठा है। इस रहस्य के जानने के लिए योगी को महाविदेहा सिद्धि प्राप्त होती है जिसमें चित्त शरीरबन्धन से मुक्त होकर बहिर्गमन करता है तथा बाह्य पदार्थों में प्रवेश कर जाता है। परिणामस्वरूप बुद्धि की सीमित ज्ञानशक्ति का आवरण नष्ट हो जाता है जिससे कि बुद्धि को प्रकृति के व्यापक स्वरूप तथा शक्ति का ज्ञान होता है। इसके अनन्तर बुद्धि प्रज्ञा के रूप में प्रज्ञा की सात भूमिकाओं में प्रवेश करती है। निर्विचार समाधि की सिद्धि के बाद चित्त के आत्मतत्व से प्रकाशित होने से योगी को आत्मसाक्षात्कार होता है जिससे उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। यह प्रज्ञा सम्यक्ज्ञानसम्पन्न है तथा इसके द्वारा अज्ञानावस्था का श्रुतज्ञान तथा अनुमानज्ञान दोनों ही स्वत: नष्ट हो जाते हैं ठीक वैसे ही जैसे प्रकाश के आने पर अन्धकार स्वत: नष्ट हो जाता है। चित्त में संचित अविद्याजनित संस्कार भी क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि –

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

(मुण्डक उप. 2/8)

अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के बाद चिज्जड़ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं तथा कर्माशय भी भस्मीभूत हो जाता है। योगी की यह अवस्था कृतार्थावस्था है और इसके भी संस्कारों के नष्ट होने पर योगी निर्बीज समाधि में प्रवेश कर जाता है। इस समाधि की सिद्धि के बाद तीनों गुण पुरुषार्थशून्य होकर अपनी कारणभूता प्रकृति में लय हो जाते हैं। इसी को गुणातीत अवस्था अथवा कैवल्यावस्था अथवा स्वरूपस्थिति कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति से पूर्व योगी को संयम के प्रयोग से अनेकानेक अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। संयम की योग्यता के बिना इस विषय को समझना तथा समझाना दोनों असम्भव-सा है तथापि

योगविद्या के प्रति आकर्षण के उद्देश्य से महर्षि पतंजलि के कुछ सूत्रों का शब्दार्थ समझाने का प्रयास किया जा सकता है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि संयम के द्वारा प्राप्त होने वाली शक्तियाँ सांसारिक व्युत्थान की अवस्था में सिद्धियाँ हैं किन्तु समाधि की आगे आने वाली उच्च अवस्थाओं के लिए अन्तरायमात्र हैं। अतः आत्मसाक्षात्कार के आकांक्षी साधक को न तो इनको विशेष महत्व देना चाहिए और न इनका प्रयोग करना चाहिए। दुःखों से निवृत्ति तथा परमात्मदर्शन तो तभी सम्भव है जब गुणात्मक प्रलोभनों से मुक्ति तथा परमात्मभाव की प्राप्ति हो सके। इसका एकमात्र उपाय तो यही है जोकि सर्वनियन्ता योगीश्वर श्रीकृष्ण ने बताया है कि –

नान्यं गुणेभ्यं कर्तारं यदा दृष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।
गुणानेतान् अतीत्य तीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्यजरादुःखैः विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।

(गीता 14/19,20)

अर्थात् परमात्मा की माया गुणों के माध्यम से ही संसार की रचना, संसार का पालन–पोषण तथा शासन तथा संसार का परिवर्तन तथा प्रलय का कार्य करती है। सनातन धर्म में इसके लिए परमात्मा के तीन प्रतीक स्वरूप हैं जो मायिक शरीरों में सर्वज्ञ मायाधिपति के रूप में संसार के नियन्ता है। शास्त्रों में इसका प्रमाण है कि –

शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका।
सत्वेन विष्णु रजसा ब्रह्मा तमसा महेश्वरः।।
कल्पयते आत्मनात्मानं आत्मा देवः स्वमायया।
सः एव बुध्यते भेदान् इति वेदान्तविनिश्चयः।।

अर्थात् संसार की लीला के लिए अपनी ही माया के द्वारा सतोगुण से विष्णु, रजोगुण से ब्रह्मा तथा तमोगुण से शिव के रूप में परमात्मा ने स्वयं को प्रकट कर माया की भ्रान्तिलीला का संचालन किया तथा स्वयं सर्वज्ञ होकर सर्वसाक्षित्व भी किया। जब योगी स्वरूपावस्था में परमात्मा की इस गुणात्मिका लीला को जान जाता है तब वह गुणातीत होकर मायापाश से मुक्त हो जाता है। यही मनुष्य जीवन का अन्तिम परम लक्ष्य है। परम लक्ष्य की प्राप्ति तो संकल्पित पुरुषार्थ के द्वारा साध्य नहीं है, वह तो उचित समय आने पर सद्गुरु की कृपा से योगसिद्धि होने पर स्वतः प्राप्त होती है। इस दिशा में श्रद्धा तथा विश्वास जागृत करने के लिए संयम रूपी पुरुषार्थ के द्वारा साध्य योगविज्ञान का परिचय कराते हैं।

(क्रमशः)

बार बार बलिहारी

– जगदीश राए बंसल 'अधम', नई दिल्ली, मो.: 09212434003

योगी राज गुरु चन्द्र मोहन की,
कहाँ तक करूं बड़ाई
गुरु जी तुम्हें, बार बार बलिहारी (टेक)

लेकर जन्म अलुपुर में, माँ धरती को धन्य धान्य किया
प्रभू राम लाल से दीक्षा लेकर, संवाई धाम सजाए दिया
आस पास नहीं कोई ऐसा योगी, जनता ने यह भाँप लिया
पहली दीक्षा दे लक्ष्मी नारायण को, माला लम्बी बना ली।

गुरु जी तुम्हें ....(1)

चलो चलें स्वाई प्यारे, एक योगी राज वहाँ आए हैं
शिक्षा पावें दीक्षा पावें, वो गुरुवर हमें बुलाए हैं
जो भी उनकी शरण में पहुँचा, सोए भाग जगाए हैं
हरियाणे का ये चन्दा चमका, योग सुगन्ध फैलाई।

गुरु जी तुम्हें ....(2)

दीन दुखी जो दर पर आया, सीने से लगाए हैं
हारी बिमारी और मुकदमा, सारे दुख मिटाए हैं
है कारोबार या शादी बच्चा, सब के कारज संवारे हैं
वर्णन नहीं हो सकता गुरु का, मूर्दों को भी जिलाई।

गुरु जी तुम्हें ....(3)

राम कहूँ या कृष्ण कहूँ, कह दूँ शंकर अवतार तुझे
धोती कुर्ते में रूप छिपाए, सो पाई ना पहचान मुझे
ज्ञानी हो या साधू महात्मा, भेद किसी को ना सूझे
'अधम' भेदिया कश्मीर चला, जा पहुँचा कन्या कुमारी।

गुरु जी तुम्हें ....(4)

योग-आसन

पद्मासन

वामोरुपरि दक्षिण हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा।

वक्षोरुपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढ़म्।।

अंगुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासोग्रमवलोकयेत्।

एतद् व्याधि विनाश-कारणपरं पद्मासनं चोच्यते।।

विधि – सीधे समभाव से बैठकर अपने दाहिने पैर को बाई जंघा पर दृढ़ता से रखें। इसी प्रकार बायाँ पैर दाहिनी जंघा पर जमाकर रखें, इसके बाद अपने दोनों हाथों को पीछे से घुमाकर दाहने हाथ से बाई जंघा पर रखे हुए दाहिने पैर के अँगूठे को व दाहिने हाथ से बायीं जंघा पर रखे हुए बायें पैर के अँगूठे को दृढ़ता से पकड़ें, ठोड़ी छाती में लगाकर (अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाकर) नासिका के अग्रभाग को देखें। इसी का नाम पद्मासन है यह सभी व्याधियों का नाश करता है।

समय – आधे मिनट से शनैः शनैः दो मिनट तक और अभ्यास बढ़ जाने पर परमार्थाभिलाषी व्यक्ति कई-कई घण्टों का अभ्यास बढ़ाते रहते हैं।

लाभ – प्राणायाम के अभ्यासियों के लिए परम श्रेयस्कर है। कुण्डलनी में गति देता है। मन की एकाग्रता एवं भ्रू मध्य ध्यान के लिए परमोत्कृष्ट है। सभी व्याधियों को हटा कर आरोग्य प्रदान करता है।

●●●

पद्मासन

श्रीगीतामृत - पदावली

लेखक – रामप्रकाश गुप्ता, हल्द्वानी, प्रेषक – डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी, गोरखपुर

अध्याय – 18

अर्जुन उवाच

त्याग तथा संन्यास, तत्व है दोनों का क्या मधुसूदन।
मुझे जानने की इच्छा है पृथक् पृथक्, हेयदुनन्दन।।1।।

श्री भगवानुवाच

काम्य कर्म सब तज देने को ज्ञानी जन कहते 'संन्यास'।
तथा 'त्याग' कहते, तजने को कहते कर्मों के, फल की सब आस।।2।।

दोष–युक्त हैं कर्म, अतः ज्ञानी बतलाते इनका त्याग।
कुछ कहते हैं, उचित न तजना दान, तपस्या अथवा त्याग।।3।।

अब इस–त्याग विषय में, अर्जुन! मेरा भी तुम सुनो विचार।
पुरुषश्रेष्ठ, हे वीर धनंजय ! इसके होते तीन प्रकार।।4।।

तजना कभी न इन कर्मों को, करना सब यज्ञ, तप, दान।
ज्ञानी को भी पावन करते, हे अर्जुन! यह सब तू जान।।5।।

तज करके आसक्ति, फलेच्छा, ये सब कर्म सदा करना।
यह विचार सर्वोत्तम मेरा, सदा पार्थ! मन में रखना।।6।।

निश्चित कर्मों को तज देना, चित नहीं है कहलाता।
तथा मोह से इनको तजना 'तामस त्याग' कहा जाता।।7।।

शारीरिक कष्टों के भय से जो कर्मों को हैं तजते।
वह राजस त्यागी है, उनको फल न त्याग के हैं मिलते।।8।।

नियत कर्म जो करते रहते, उचित सदा उनको ही जान।
तज देते आसक्ति, फलेच्छा, उसी त्याग को 'सात्विक' मान।। 9।।

अशुभ और शुभ कर्मों से अर्जुन,जिसको नहीं द्वेष–अनुराग।
संशयहीन, सत्वगुणवाले उस ज्ञानी का सच्चा त्याग।। 10।।

पूर्ण त्याग कर्मों का कोई कर सकता है नहीं कभी।
कर्मों का फल जो तज देता, 'त्यागी' कहते उसे सभी।। 11।।

बुरे, भले, मिश्रित फल, अर्जुन! कर्मों के जो कहलाते।
बिना त्याग वाले जन पाते, कभी न संन्यासी पाते।। 12।।

मुझसे सुनो पार्थ! अब क्या–क्या कारण पाँच कहे जाते।
सांख्य–शास्त्र में कर्म–सिद्धि–हित जिनको मुनिवर बतलाते।। 13।।

ये हैं – कर्ता, अधिष्ठान औ' साधन, पृथक्–पृथक् तू जान।
भिन्न–भिन्न चेष्टाएँ, अर्जुन! तथा दैव पंचम तू मान।। 14।।

तन मन औ' वाणी से सबनर कर्मों को करते रहते।
शुभ हों अथवा अशुभ सभी में, ये पांचों कारण रहते।। 15।।

इस पर भी जो अपने ही को मूढ़ पुरुष 'कर्ता' कहता।
उचित ज्ञान उस बुद्धिहीन को समझो, पार्थ! नहीं रहता।। 16।।

'मैं कर्ता' यह भाव न जिसको, बुद्धि सदा जिसकी निर्मुक्त।
लोगों की हत्या भी कर वह घातक नहीं, न बन्धन–युक्त।। 17।।

ज्ञान ज्ञेय, ज्ञाता को अर्जुन, कर्मों का प्रेरक ले जान।
कर्ता, कर्म, करण – इन सबको कर्मों का प्रेरक तू मान।। 18।।

कर्ता कर्म तथा ज्ञान भी होते हैं गुण के अनुसार।
जैसा वर्णन सांख्य शास्त्र में, इसके होते तीन प्रकार।। 19।।

भिन्न-भिन्न जीवों में जिससे तत्व अनश्वर एक महान।
एक समान दीखता अर्जुन, उसी ज्ञान को सात्विक जान।। 20।।

भिन्न भिन्न जीवों में जिससे अलग अलग सत्ता का भान।
पृथक पृथक समझे वह उसको वही ज्ञान राजस तू मान।। 21।।

सारहीन है जो क्षणभंगुर, कारण तत्व नहीं कुछ ज्ञात।
अर्थ रहित है जो हे अर्जुन, तामस ज्ञान वही विख्यात।। 22।।

राग-द्वेष, आसक्ति न जिसमें , नहीं फलेच्छा जिसमें, तात!
नियत जान करते हैं जिसको वही कर्म 'सात्विक' है ज्ञात।। 23।।

अहंकार औ फल इच्छा से जो भी कर्म किया जाता।
बड़े परिश्रम से जो होता, वही राजसी कहलाता।। 24।।

बिना विचारे अपना पौरुष, हिंसा, हानि और परिणाम।
मोह-सहित करते हैं जिसको, उसी कर्म को 'तामस' जान।। 25।।

(क्रमशः)

शोक संवेदना

बड़े दुःख की बात है कि आसेर दतिया निवासी पं. श्री आशाराम गोस्वामी जी का 23 मार्च, 2013 को देहावसान हो गया है। वे 85 वर्ष के थे। उनके पुत्र श्री राम कुमार गोस्वामी हैं जो इन्दौर में जिला जज हैं। श्री गोस्वामी जी गुरुदेव के लाड़ले पुराने शिष्य थे। प्रभु उनको अपने पावन चरण कमलों में स्थान दें। दुःख सन्तप्त परिवार को इस दुःसह्य दुःख को सहन करने की क्षमता प्रदान करें।

शोकाकुल
सिद्धयोग परिवार मण्डल

भजन

— अवनीश भटनागर, सहारनपुर

ले के सिद्धयोग का सार, करने शक्ति का संचार
सवांई नगरी में आये है चन्द्रमोहन जी
हिमालय नगरी से आये है महाप्रभु जी

कितनी भी रुकावट आये चाहे इस जग से,
मिलना जरूर है, श्री सतगुरु जी से
रोज आऊं दर तेरे, लेने सिद्ध कृपा
होती रहे मुझ पर, तेरी शक्ति वर्षा
मैं तो हूँ बालक नादान, कृपा लेने का ना ज्ञान
खुद ही देना सब कुछ, जरूरत जान के ....

कुण्डलनी शक्ति मचले, तुम शिव को देखकर
ऊपर को चढ़ती जाये, चक्रों को भेदकर
दुर्लभ समाधि ज्ञान, मुझको कराओ प्रभुजी
आत्म दर्शन को करके, पाऊँ कैवल्य मुक्ति
करके निज रूप का ध्यान होवे शुद्ध तत्व का ज्ञान
केवल मेरे गुरुवर ही दे सकते हैं ये सब ....

योग में उन्नति करके, आगे ही बढ़ता जाऊँ,
अणिमा महिमा गरिमा, योग ऐश्वर्य पाऊँ,
खेचर भूचर क्रिया, सुनने में मेरे आये
दाता हैं मेरे सद्गुरु, मुझको ये देना चाहें
ये है सिद्धों का दरबार, इनकी महिमा अपरम्पार
ये तो कुछ भी देते अधिकारी जान के...............

सब कुछ मैं करना चाहूँ, मैं तो कर कुछ ना पाऊँ
मैं तो अनभिज्ञ बालक, तेरे चरणों का सेवक

जो कुछ कहते हो मुख से, करता मैं उसका पालन
सद्गुरु की आज्ञा ये है, करूँ सतसंग संचालन
करो सिद्धयोग प्रचार, ये हैं सद्गुरु के उद्गार।
सतसंग करो तुम बड़े, धूमधाम से.......

सद्गुरु की शक्ति रचती, सारा यह खेल है
बिन ड्राइवर के चलाती, देखो यह रेल है
दास अवनीश सेवक तेरा, करता है सुमिरन तेरा
देकर गुरु तत्व का ज्ञान, हर दुखड़ा काटो मेरा
करते रोज चमत्कार, होती भारी जय जयकार
सिद्धेश्वर प्रभु चन्द्र मोहन सद्गुरुवर की...........

●●●

क्यों करता नर तू अभिमान

– द्वारका प्रसाद शर्मा, लखनऊ

क्यों करता नर तू अभिमान।
क्या है तेरा, कहता मेरा, बैठा अपना मान।
जन्म समय से मरण काल तक सुन ले अपनी आन।
करता सब कुछ वही एक प्रभु जिसकी शक्ति महान्।
पर कुछ करके फूला फिरता, करता निज गुणगान।
नाम भुलाकर शक्तिमान का अपना करे बखान।
साँस साँस में बसते तेरे मात्र वही भगवान।
जीवन उनसे सब कुछ उनका किसका तुझे गुमान।
माया उनकी काया उनकी उनका कर बस ध्यान।
आत्मरूप में परमात्मा का अंश तुझमें विद्यमान।
चिन्तन कर यह मन्थन कर नित, यदि चाहे कल्याण।
ब्रह्म सत्य बस है असत्य सब लम्बा सपना जान।
भक्ति उसी करुणा निधान की सदा दिलाये त्राण।।

●●●

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात'

विज्ञातारमरे केन विजानीयात - विज्ञाता को कैसे जानोगे ? ज्ञाता को कोई जान नहीं सकता, क्योंकि यदि वह समझ में आने योग्य होता , तो वह कभी ज्ञाता न रह जाता। और यदि तुम आइने में अपनी आँखों का विम्ब देखो, तो तुम उन्हें अपनी आँखें नहीं कह सकते, वे कुछ और ही हैं, वे विम्बमात्र हैं। अब बात यह है कि यदि यह आत्मा - यह अनन्त सर्वव्यापी पुरुष साक्षी मात्र हो , तो इससे क्या हुआ ? यह हमारी तरह न चल फिर सकता है, न जीता है, न संसार का संभोग कर सकता है। यह बात लोगों की समझ में नहीं आती कि जो साक्षी स्वरूप है, वह किस तरह आनन्द का उपभोग कर सकता है। ''हे हिन्दुओ, तुम सब साक्षी स्वरूप हो, इस मत से तुम लोग निष्क्रिय और अकर्मण्य हो गये हो'' - यह बात लोग कहा करते हैं। उनकी इस बात का उत्तर यह है, 'जो साक्षी स्वरूप है, वही वास्तव में आनन्दोपभोग कर सकता है।' अगर कहीं कुश्ती लड़ी जाती है तो अधिक आनन्द किन्हें मिलता है ? - जो कुश्ती लड़ रहे हैं उन्हें या जो दर्शक हैं उन्हें ?

इस जीवन में जितना ही तुम किसी विषय में साक्षी स्वरूप हो सकोगे उतना ही तुम्हें उससे अधिक आनन्द मिलता रहेगा। यथार्थ आनन्द यही है और इस युक्ति से तुम्हारे लिए अनन्त आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब तुम इस विश्व ब्रह्मांड के साक्षी स्वरूप हो सको। तभी मुक्त पुरुष हो सकोगे। जो साक्षी स्वरूप है, वही निष्काम भाव से स्वर्ग जाने की इच्छा न रख, निन्दा-स्तुति को समदृष्टि से देखता हुआ कार्य कर सकता है। जो साक्षी स्वरूप है, आनन्द वही पा सकता है, दूसरा नहीं। अद्वैतवाद के नैतिक भाग की विवेचना करते समय उसके दार्शनिक तथा नैतिक भाग के अन्तर्गत एक और विषय आ जाता है, वह मायावाद है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत एक एक विषय के समझने में ही वर्षों लग जाते हैं और व्याख्या करने में महीनों लग जाते हैं, इसलिए इसका मैं उल्लेख मात्र ही करूँगा। इस मायावाद को समझना सभी युगों में बड़ा कठिन रहा है। मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, मायावाद वास्तव में कोई वाद या मत विशेष नहीं है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है - और इस देश, काल, निमित्त को आगे नाम-रूप में परिणत किया गया है। मान लो समुद्र में एक तरंग है। समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंग से पृथक कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंग के साथ ही हैं, तरंगें विलीन हो जा सकती हैं; और तरंग में जो नाम रूप है, वे भी चाहे चिर काल के लिए विलीन हो जायें, पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें, पशुओं में और मनुष्यों में, देवताओं और मनुष्यों में भेदभाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय, नाम और रूप दूर कर दिये जायें, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायेगी, तब तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जाओगे। यही माया है। और फिर यह कोई सिद्धान्त भी नहीं है, केवल तथ्यों का कथन मात्र है।

- ***स्वामी विवेकानन्द***

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/2009-11 MAY 2013

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______________________

सभी प्राणियों के अन्दर भगवान् श्रीहरि आत्मरूप से विराजमान हैं, अत: सब प्राणियों को भगवान् का निवास-स्थान समझकर किसी से भी द्रोह नहीं करना चाहिए, ऐसा करने से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं।

– श्रीमद्भगवतगीता

संस्थापक:– योगयोगेश्वर अनन्तश्री मन्दमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा